UPNUL/2013/51445
अभिनिर्देशित एवं सन्दर्भित

ISSN 2277-5854
UGC CARE LISTED

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक
प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
वरिष्ठ शोध अध्येता,
(भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्)
पूर्व-समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र व
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 12 अङ्क 2

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, **2023**

सम्पादक :
प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

प्रो. एस. सुदर्शन शर्मा, पूर्व-कुलपति, श्री वेंकटेश्वर वैदिक विश्वविद्यालय, तिरुपति।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी, कुलाधिपति, महात्मा गान्धी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

प्रो. युगल किशोर मिश्र, पूर्व-कुलपति, ज.रा. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र, प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू वि. वि., वाराणसी-221005

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, सदस्य, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, महरौली-बदरपुर रोड, नई दिल्ली-110062

प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस, कालिदास प्रोफेसर एवं पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

प्रो. शीतलाप्रसाद पांडेय, पूर्व-अध्यक्ष, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या, धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

प्रो. गोपाल प्रसाद शर्मा, अध्यक्ष, वेद विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

प्रो. रवीन्द्रनाथ भट्टाचार्य, संस्कृत विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता-700073

प्रो. चन्द्रकान्ता राय, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी,-221002

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed & referred ISSN 2277-5854
Peer Reviewed & referred UGC CARE LISTED

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor
Sri Dattātreyānandanāth
(Sitaram Kaviraj)

Editor
Prof. Rajendra Prasad Sharma
Sinior Fellow
(Indian Council of Philosophical Research)
Ex-Co-ordinator (UGC CAS)
Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 12 अङ्क 2

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

February, 2023

Editor :
Prof. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	
शोधलेख			
1.	*चरकसंहिता* में परमात्मविवेचन का वैशिष्ट्य	डॉ. विश्वावसु गौड प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़	1–9
2.	अद्वैत वेदान्त के अनुसार मनस् तत्त्व की संकल्पना एक समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. नवीन दीक्षित	10–22
3.	सात्त्वतसंहिता में ब्रह्मविमर्श	अंकित शर्मा	23–28
4.	वासुदेव उपनिषद् में प्रतिभासित आध्यात्मिक तत्त्व	डॉ. शुभ्रजित् सेन डॉ. विजयघोष	29–32
5.	शाक्तागम में कुण्डलिनी योग का स्वरूप	डॉ. योगेश प्रसाद पाण्डेय	33–38
6.	*श्रीनेत्रतन्त्र* में वर्णित योगसाधना में अष्टांगयोग का दार्शनिक स्वरूप	डॉ. प्रदीप	39–46
7.	दस महाविद्याओं का दार्शनिक रहस्य	प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	47–53

8.	काश्यपगीता का मुख्य प्रतिपाद्य	डॉ. समीर कुमार	54–56
9.	वेदान्तशास्त्र की वेदमूलकता	डॉ. सुजाता पटेल	57–60
10.	आगमेषु प्रतिमाविज्ञानं मूर्तिकला च	प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेयः	61–66
11.	श्रीमद्भगवद्गीतायां योगप्रसङ्गः	डॉ. शान्तिगोपाल–दासः	67–74
12.	An Understanding of the Nature of Consciousness/ Self Through Upaniṣadic Dialogue	Dr. V Sujata Raju	75–88
13.	The Significance of Sacrifice in Hinduism	Dr. Monica Prabhakar	89–95
14.	Concept of Psychosocial Well-being in Yoga Sūtras of Patañjali	Aswini Sham Tikhe, Dr. Akhilesh Kumar Singh Dr. Sham Ganpat Tikhe	96–104

सम्पादकीय

परम सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है।

इस अङ्क के प्रथम आलेख '*चरकसंहिता* में परमात्मविवेचन का वैशिष्ट्य' में डॉ. विश्वावसु गौड तथा प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़ ने चरकसंहिता के आधार पर परमात्मा के विवेचन का स्तुत्य प्रयास किया है। 1.सूक्ष्म शरीर रूपी आत्मा, 2. गर्भात्मा, 3. राशिपुरुष (स्थूल शरीर) तथा 4. परमात्मा (ब्रह्म) रूपी चार भेदों को चरकसंहिता के ग्रन्थांश के आधार पर शास्त्रीय निरूपण किया गया है। विशेषत: परमात्मा के पर्याय, विशेषण, भूतात्मा, परमात्मा के लक्षण, निष्क्रियत्व तथा स्थूल शरीरात्मा का परमात्मा से पार्थक्य को सुतरां सिद्ध किया है। इससे आयुर्वेदीय जीवात्मा तथा परमात्मा के ऐक्य तथा पार्थक्य की आयुर्वेदीय दृष्टि का समुन्मीलन होता है। इस सारस्वत दार्शनिक अवदान के लिए सादर प्रणाम एवं अभिनन्दन।

द्वितीय आलेख 'अद्वैत वेदान्त के अनुसार मनस् तत्त्व की संकल्पना एक समीक्षात्मक अध्ययन' में डॉ. नवीन दीक्षित ने मन के स्वरूप निरूपण पर अद्वैत दृष्टि से गहन समीक्षात्मक विवेचना प्रस्तुत की है। इस विस्तृत दार्शनिक समीक्षा हेतु हार्दिक साधुवाद।

तृतीय आलेख 'सात्त्वतसंहिता में ब्रह्मविमर्श' में अंकित शर्मा ने सात्वतसंहिता के आधार पर ब्रह्म के निरूपण तथा चतुर्व्यूह के भेदों को स्पष्ट किया है जिससे पांचरात्रीय साधना की दार्शनिक दृष्टि सुस्पष्ट होती है। अत: साधुवाद।

चतुर्थ आलेख 'वासुदेव उपनिषद् में प्रतिभासित आध्यात्मिक तत्त्व' में डॉ. शुभ्रजित् सेन एवं डॉ. विजयघोष ने वासुदेव उपनिषद् के आधार पर वैष्णव तिलक का आध्यात्मिक स्वरूप सुस्पष्ट किया, अत: साधुवाद।

पञ्चम आलेख 'शाक्तागम में कुण्डलिनी योग का स्वरूप' में डॉ. योगेश प्रसाद पाण्डेय ने शाक्तागम ग्रन्थों में विवेचित कुण्डलिनीके स्वरूप की विवेचना करते हुए *शारदा तिलक* ग्रन्थ के आधार पर कुण्डलिनी के द्वारा शब्द सृष्टि की प्रक्रिया को सुस्पष्ट किया है। साधुवाद।

षष्ठ आलेख '*श्रीनेत्रतन्त्र* में वर्णित योगसाधना में अष्टांगयोग का दार्शनिक स्वरूप' में डॉ. प्रदीप के श्रीनेत्रतन्त्र में विवेचित योग के अष्टांगों का शास्त्रीय निरूपण किया है। एतदर्थ साधुवाद।

सप्तम आलेख 'दस महाविद्याओं का दार्शनिक रहस्य' में प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा ने दशमहाविद्याओं के उद्भव, देश तथा काल आदि के शास्त्रीय विवेचन तथा आध्यात्मिक रहस्य को विवेचित किया है।

अष्टम आलेख '*काश्यपगीता* का मुख्य प्रतिपाद्य' में समीर कुमार ने *अनुगीता* में अन्तर्गभित काश्यप गीता के मुख्य प्रतिपाद्य मोक्ष धर्म की संक्षिप्त मीमांसा प्रस्तुत की है। अत: शुभाशीष।

नवम आलेख 'वेदान्तशास्त्र की वेदमूलकता' में सुजाता पटेल ने वेदान्तशास्त्र के आधारभूत वेदशास्त्र की महत्ता प्रतिपादित की है। अत: साधुवाद।

दशम आलेख 'आगमेषु प्रतिमाविज्ञानं मूर्तिकला च' में प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेय ने पांचरात्र के आगम ग्रन्थों के आधार पर प्रतिमा के विविध भेदों का शास्त्रीय आधार तथा विष्णु के दशावतार के विग्रह स्वरूप पर समीचीन शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। अत: हार्दिक साधुवाद।

एकादश आलेख 'श्रीमद्भगवद्गीतायां योगप्रसङ्गः' में डॉ. शान्तिगोपाल-दासः ने भगवद्गीता के आधार पर योग विधि पर गम्भीर शास्त्रीय मीमांसा प्रस्तुत कर महनीय कार्य किया है। गीता के मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं योगदर्शन के भेद के मर्म को उद्घाटित किया है। अत: सादर वन्दना।

द्वादश आलेख '*An Understanding of the Nature of Consciousness/ Self ThroughUpaniṣadic Dialogue*' में डॉ. वी सुजाता राजू ने वृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् के अजातशत्रु-गार्ग्य, याज्ञवल्क्य-जनक, इन्द्र-प्रजापति एवं उद्दालक आरुणि-श्वेतकेतु आदि संवादों के आधार पर आत्मा एवं ब्रह्म के स्वरूप निर्णय का अद्भुत प्रयास किया है। अत: सादर प्रणाम।

त्रयोदश आलेख '*The Significance of Sacrifice in Hinduism*' में डॉ. मोनिका प्रभाकर ने भगवद्गीता के आधार पर त्याग एवं दान के विविध स्वरूप की दार्शनिक मीमांसा की है। अत: सादर नमन।

अन्तिम आलेख '*Concept of Psychosocial Well-being in Yoga Sūtras of Patañjali*' में अश्विनी शाम तिखे, डॉ. अखिलेश कुमार सिंह तथा डॉ. शाम गणपत तिखे ने पतञ्जलि के योग सूत्रों में मनोसामाजिक कल्याण की अवधारणा का गम्भीर विश्लेषण एवं समीक्षण कर अद्भुत कार्य किया है। एतदर्थ लेखकत्रयी को सादर साधुवाद।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

चरकसंहिता में परमात्मविवेचन का वैशिष्ट्य

डॉ. विश्वावसु गौड
प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़

आचार्य चरक ने परमात्मा का विवेचन जिस प्रकार से किया है वह एक उलझन भरा स्वरूप है, ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ने परमात्मा को राशि पुरुष में संस्थित प्रतिबन्धित आत्मा से पृथक् न मानते हुए उसके विशिष्ट पर्यायों का निर्देश किया है तथा परमात्मतत्त्व को राशि पुरुष में व्यक्त होने वाले स्वरूप के साथ सम्बद्ध कर दिया है तथा उसी अक्षर (ब्रह्म) के पर्यायों को इसके लिए भी प्रयुक्त मान लिया है, ऐसा प्राथमिक दृष्टि से प्रतीत होता है क्योंकि दोनों के लक्षण एक स्थान पर निर्दिष्ट कर दिए हैं, पर इनमें कुछ विशिष्ट पर्याय केवल राशिपुरुष में संस्थित परमात्मतत्त्व के लिए ही प्रयुक्त हो सकते हैं , अक्षरस्वरूपक परमात्मा के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकते, यह इस लेख में आगे स्पष्ट किया जाएगा।

राशिपुरुष भी पृथक् से विवेचनीय है। आचार्य चरक ने विभिन्न स्थलों पर परमात्मतत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जिस प्रकार से विवेचन किया है वह यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

चरकसंहिता में पुरुष का वर्णन करते समय 4 प्रकार के पुरुष निर्दिष्ट किए गए हैं—

1. सूक्ष्मशरीरयुक्त आत्मा (आतिवाहिकशरीर)
2. गर्भात्मा
3. राशिपुरुष
4. परमात्मा (ब्रह्म)

1. सूक्ष्मशरीरयुक्त आत्मा

चरकसंहिता में सूक्ष्मशरीरयुक्त आत्मा का भी वर्णन है, जिसे दार्शनिकों ने आतिवाहिक शरीर कहा है। इतिहास की दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि चरकसंहिता में आतिवाहिक संज्ञा का प्रयोग कहीं पर भी नहीं किया गया है अपितु इसे केवल सूक्ष्मशरीर कहा गया है। जहाँ-जहाँ सूक्ष्मशरीर कहा गया है उसे व्याख्याकारों ने आतिवाहिक शरीर ही माना है। चरकसंहिता में इसका जिस प्रकार से वर्णन किया गया है वह पृथक् से विवेचनीय है।

2. गर्भात्मा (अन्तरात्मा या जीव)

आत्मा की प्रारम्भिक स्थिति में एकीय मत से महर्षि चरक ने गर्भात्मा का भी पृथक् से उल्लेख किया है जोकि आत्मतत्त्व से सम्बद्ध सूक्ष्मभूतों या आतिवाहिक शरीर के गर्भ में प्रवेश की प्रक्रिया के रूप में निर्दिष्ट है।

3. राशिपुरुष (स्थूल शरीर)

चरकसंहिता में पुरुष शब्द का प्रयोग लगभग 154 बार किया गया है जबकि चरकसंहिता के व्याख्याकार चक्रपाणि ने इस पद को अपनी व्याख्या में 225 बार प्रयुक्त किया है, जिनमें अधिकांश स्थानों पर पुरुष का तात्पर्य चतुर्विंशतितत्त्वात्मक शरीर है जोकि कर्मपुरुष माना गया है, इसे स्थूल शरीर भी कह सकते हैं, यही राशिपुरुष है।

4. परमात्मा (ब्रह्म)

अनेक स्थलों पर जहाँ-जहाँ दार्शनिक विवेचन है वहाँ-वहाँ इसका अर्थ परमात्मा या ब्रह्म माना गया है। यहाँ विवेचनीय विषय परमात्मा या ब्रह्म है। पृथक से नहीं किया गया है लेकिन भिन्न-भिन्न स्थलों के लिए किए गए वर्णन के आधार पर इसके स्वरूप का सांकेतिक रूप में वर्णन किया जा सकता है।

इनमें पूर्वोक्त तीन पृथक् से विवेचन के योग्य हैं, यहाँ केवल परमात्मा (ब्रह्म) विवेचनीय है। चरकसंहिता में इसका विशिष्ट वर्णन या विशिष्ट स्वरूप कहीं भी नहीं है फिर भी इसके विवेचन को निम्न उपशीर्षकों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. परमात्मा के पर्याय
2. परमात्मा के विशेषण
3. अक्षर एवं अलक्षण ब्रह्म
4. ब्रह्मभूत भूतात्मा
5. परमात्मा के लिङ्ग
6. आत्मा (परमात्मा) का निष्क्रियत्व
7. परमात्मा एवं राशिपुरुषस्थ आत्मा का पार्थक्य

1. परमात्मा (ब्रह्म)के पर्याय

पर्यायों के विश्लेषण से ही परमात्मा का वैशिष्ट्य भी परिलक्षित हो जाता है अतः यहां सर्वप्रथम पर्यायों का उल्लेख किया जा रहा है। निर्विकार आत्मा जो कि परमात्मा है उसके पर्यायों का निर्देश करते हुए महर्षि चरक कहते हैं कि वहाँ सर्वप्रथम चेतना धातु (आत्मा) जिसका मन ही करण (सत्त्वकरणः) है वह गुणग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, इसके पर्याय निम्नलिखित हैं—हेतु, कारण, निमित्त, अक्षर, कर्ता, मन्ता,

वेदिता, बोद्धा, द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप, पुरुष, प्रभव,अव्यय, नित्य, गुणी, ग्रहण, प्रधान, अव्यक्त, जीव, ज्ञ, पुद्गल, चेतनावान्, विभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा और अन्तरात्मा।

ये आत्मा के 29 पर्याय (च.शा.4/8) बताए गए हैं।

च. शा.1/60-62 में आत्मा को अव्यक्त, आत्मा, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु, अव्यय, लिङ्गग्राह्य एवं अतीन्द्रिय कहा गया है। इनमें आत्मा, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, लिङ्गग्राह्य एवं अतीन्द्रिय ये पर्याय च.शा.4/8 में बताए गए पर्यायों से अधिक हैं। इसके अतिरिक्त तच्चाक्षरमलक्षणम् (च.शा. 1/154-155) भी कहा गया है, इसमें अलक्षण यह पर्याय अधिक है। इसी तरह चरकसंहिता के शारीरस्थान के द्वितीय अध्याय के 31 वें सूत्र में मनोजव भी कहा गया है जो कि इस परमात्मा का पर्याय ही है, यह आगे स्पष्ट किया जाएगा।

अतः इन पूर्वोक्त 29 पर्यायों के साथ आत्मा, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, लिङ्गग्राह्य, अतीन्द्रिय,अलक्षण एवं मनोजवः (मनोगतिः) को भी परमात्मा के पर्यायों में परिगणित कर लेने पर चरकसंहिता में परमात्मा के कहे गए पर्यायों की संख्या 36 हो जाती है। अलक्षण एवं मनोजव को पर्यायों में ग्रहण करने से सम्बन्धित वर्णन आगे यथास्थान किया जाएगा।

यहाँ आत्मा के सत्त्वकरणस्वरूप को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि—

सत्त्वं मनः करणं यस्य स सत्त्वकरणः; आत्मा निष्क्रियत्वेन क्रियावता मनसा यत् कार्यं करोति, तच्च कार्यं मनसा क्रियमाणमप्यचेतनेन चेतनावत आत्मन एवोच्यते। वचनं हि- "चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते" (शा.1/76)।

यह गुणी क्यों है ? इसे चक्रपाणि स्पष्ट करते हैं—

गुणग्रहणायेत्यत्र गुणशब्देन गुणगुणिनोरभेदोपचारादुणवन्ति भूतान्युच्यन्ते ।

यद्यपि यहाँ जो पर्याय बताए गए हैं वे निर्विकार आत्मा अर्थात् परमात्मा के पर्याय ही बताए हैं लेकिन यह परमात्मा का वह अंश है जो सृष्टि को करने की इच्छा से प्रवृत्त होता हुआ अन्य तत्त्वों के साथ मिल कर राशिपुरुष की उत्पत्ति में कारण होता है फिर भी इन्हें परमात्मा के पर्याय-स्वरूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए क्योंकि इन सभी पर्यायों से उस निर्विकार परमात्मा का ही ग्रहण होता है जो राशिपुरुष या स्थूल पुरुष में कर्मानुबन्ध स्वरूप में अन्य तत्त्वों के साथ आबद्ध रहता है।

एतद् विषयक धारणा को स्पष्ट करते हुए महर्षि चरक आगे कहते हैं कि—

स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते, यथा- प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः; तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः।

सर्वमपि तु खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति।। (चरक. शा. 4/8)

अर्थात् वह (आत्मा) गुणग्रहण करने के समय सर्वप्रथम अन्य गुणों की अपेक्षा अंतरिक्ष (आकाशतत्त्व) का ग्रहण करता है, जैसे प्रलय के बाद आदिसर्ग में भौतिक सृष्टि का इच्छुक अविनाशी वह आत्मा सत्त्वरूप उपादान (साधन) का सहारा लेकर सर्वप्रथम आकाश का सृजन करता है, उसके बाद क्रमशः (क्रमपूर्वक) व्यक्ततर (आकाश की अपेक्षा अधिक स्पष्ट) गुणों वाले वायु आदि चार धातुओं को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार देह-ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त वह आत्मा सबसे पहले आकाशतत्त्व का ही ग्रहण करता है। इन सभी आकाश इत्यादि महाभूतों के शब्दादि गुणों का ग्रहण थोड़े से ही समय में अर्थात् अति शीघ्र हो जाता है।

इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि ने इसके (आत्मा के) पर्यायों का विश्लेषणपरक विवेचन प्रस्तुत करते समय कहा है कि जो क्षरित (च्युत, क्षीण) नहीं होता है वह अक्षर है (न क्षरतीत्यक्षरम्)। यहाँ आत्मा को गुणी भी कहा गया है जिसका तात्पर्य है- भूतस्वरूप गुणवाला (गुणी भूतरूपगुणवानित्यर्थः)। जो भूतों को ग्रहण करता है वह ग्रहण है (गृह्णाति भूतानीति ग्रहणम्)।

व्याख्याकार चक्रपाणि ने अन्य पर्यायों का विश्लेषण नहीं किया लेकिन अक्षर, गुणी और ग्रहण इन तीन पर्यायों का विश्लेषण किया है। ये सभी पर्याय उस परमात्मतत्त्व के लिए हैं जो कि राशिपुरुष के साथ संयुक्त होने का इच्छुक है या संयुक्त होता है या बाद में मुक्त होता है (मोक्ष को प्राप्त करता है)। यहाँ इस प्रसङ्ग में यह भी स्पष्ट जान लेना चाहिए कि महाप्रलय में विकारों का (षोडश तत्त्वों का) प्रकृति में लय होने से प्रकृति एवं पुरुष ये दो ही अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं। इसके बाद जब सृष्टि का प्रारम्भ होता है तो प्रकृति से महान्(बुद्धि) आदि का प्रपञ्च क्रमशः उत्पन्न होता है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि चरक ने राशिपुरुष में चतुर्विंशति तत्त्वों की ही स्वीकृति की है क्योंकि प्रकृति एवं पुरुष ये दोनों अव्यक्त रूप में समाहित हैं। इस प्रसङ्ग को चक्रपाणि ने भी स्पष्ट करते हुए यही कहा है कि यह चतुर्विंशतितत्त्वात्मक स्वरूप पञ्चविंशतितत्त्वात्मक पुरुष मानने वालों से विरुद्ध नहीं है क्योंकि अव्यक्त में ही प्रकृति एवं पुरुष का समावेश हो जाता है, यथा—

तथाऽपीह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यादव्यक्तायां प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति; तेन 'चतुर्विंशतिकः पुरुषः' इत्यविरुद्धम्। उदासीनस्य हि सूक्ष्मस्य भेदप्रतिपादन-मिहानतिप्रयोजनमिति न कृतम्। (च. शा.1/17 चक्रपाणि)

महर्षि चरक का मानना है कि जब परमात्मतत्त्व सृष्टि करने की इच्छा करता है तब सृष्टिक्रम में सबसे पहले आकाश की उत्पत्ति होती है और उससे वायु आदि व्यक्त स्वरूप में उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः यह सिद्धान्त साङ्ख्यदर्शन से पूर्णरूपेण समत्व रखता है, यहाँ आकाश की उत्पत्ति साङ्ख्यदर्शन के अनुरूप ही

है जहाँ आत्मा को देहग्रहण करने के लिए कहा गया है, वह गर्भस्वरूप ग्रहण होने के लिए प्रवृत्त वह आत्मा शुक्रशोणितगत आकाश को आकाश रूप में स्वीकार करता है यह चक्रपाणि का मत है, यथा—

महाप्रलये हि विकारस्य प्रकृतौ लयात् प्रकृतिपुरुषावेव परमव्यक्तरूपौ तिष्ठतः, ततश्च सर्गारम्भे प्रकृतेर्महदादिप्रपञ्च उत्पद्यते क्रमेण; तत्र प्रथममाकाशमुत्पद्यते, ततो वाय्वादीनि व्यक्तानीति साङ्ख्यसिद्धान्तः। आकाशस्य च जन्यत्वं साङ्ख्यमतेनैव ज्ञेयम्। देहग्रहणेऽपीति गर्भस्वरूपग्रहणेऽपि। उपादत्त इति शुक्रशोणितगतमाकाशमाकाशमयतया स्वीकरोति। *(चरक. शा. 4/8 पर चक्रपाणि)*

यहाँ आत्मतत्त्व के साथ भूतों के ग्रहण का क्रम निर्दिष्ट किया गया है वह भी साङ्ख्यदर्शन से समत्व रखता है। यहाँ आचार्य चरक यह भी कहते हैं कि यह भूतग्रहण की प्रक्रिया "अणुकालेन भवति" अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म काल में ही हो जाती है ।

उपर्युक्त पर्यायकथन में जो "गुणी एवं ग्रहण" पर्याय कहे गए हैं इनके विग्रह-वाक्यों से आत्मा की गुणाश्रयता एवं भूताश्रयता (गुणवत्ता एवं भूतवत्ता) प्रदर्शित होती है। इसे यों समझा जा सकता है कि- "एतैः पर्यायैरात्मनोऽभिधेयस्येतरपदार्थोपकार्यत्वेनाश्रयत्वं प्रदर्श्यते।"अर्थात् इन पर्यायों के द्वारा आत्मा के अभिधेय अर्थ के इतर पदार्थ के उपकार्य होने से आश्रय सिद्ध होना प्रदर्शित किया जा रहा है (बताया जा रहा है)।

यहाँ पर भूतों की स्थिति पुरुष के उपभोग के लिए निर्दिष्ट है, अतः आत्मा उपकार्य है और गुणभूत उपकारक भी है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा उपकार्य होने से गुणों अर्थात् भूतों का आश्रय है। इसे इसी रूप में यहाँ समझना चाहिए । इसका तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ पर जिस परमात्मा का निर्देश है वह राशिभूत पुरुष के साथ (स्थूल शरीर के साथ) संपृक्त होने वाला परमात्मतत्त्व है।

इसी तरह "पुद्गल" पर्याय का भी चक्रपाणि ने विश्लेषण नहीं किया है, उसे भी यों समझना चाहिए "पूर्यते गलति चेति पुद्गलः।पृषोदरादित्वात् साधुः। पुद्गलः जीवात्मा"। मेदिनीकोष में "आत्मा एवं देह" इन दोनों को ही पुद्गल कहा है। पुद्गल के अर्थ हैं-"सुंदर, प्यारा, परमाणु,शरीर, पदार्थ, जगत्, शिव का नाम, स्वर्ण या रजत से निर्मित पदार्थ" ये सभी पुद्गल के अर्थ के रूप में गृहीत होते हैं।

इसी तरह मनोजव को भी परमात्मा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है, यथा—

मनसा जवते गच्छतीति मनोजवः। एतेन चात्मनो व्यापकस्य यद्यपि देहान्तरगतिर्नास्ति, तथाऽप्यस्य मनोगतिरेव भूतसहिता गतिशब्देनोच्यत इति दर्शितं भवति।(च.शा.2/31)

2. परमात्मा (चेतना धातु) के विशेषण

चरकसंहिता में गर्भ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहले 3 प्रश्न उपस्थापित किए गए हैं, यथा—

कस्मात् प्रजां स्त्री विकृतां प्रसूते हीनाधिकाङ्गीं विकलेन्द्रियां वा।
देहात् कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबध्यते च।। *(चरक. शा.* **2/28**)

यहाँ निर्दिष्ट द्वितीय प्रश्न का उत्तर आगे दिया गया है उसमें कर्मानुबन्धित आत्मा का देह से देहान्तर में गमन बताया गया है तथा इसे ऐसी स्थिति में मनोजव कहा गया है जो इसके विशिष्ट स्वरूप को बताने वाला विशेषण होते हुए भी पर्याय रूप में प्रयुक्त है ऐसा माना जा सकता है, यथा—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्।। (*च.शा.* **2/31)**

इसमें द्वितीय प्रश्न का जो उत्तर दिया गया है उससे यह ज्ञात होता है कि यह वर्णन उस परमात्मा के अंश के लिए है जो राशिपुरुष की उत्पत्ति के लिए प्रस्तुत होता है। इसमें इस परमात्मतत्त्व के विशिष्ट धर्मों का उल्लेख विशिष्ट पदों के माध्यम से किया गया है। इनमें चेतनाधातु एवं अतीन्द्रिय को छोड़कर जो अन्य विशिष्ट पद हैं वे इसके पर्याय न होकर इसके विशिष्ट धर्म को बताने वाले विशेषण प्रतीत होते हैं, यथा—

स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव।। (*च.शा.***2/31)**

यहां कुछ विशिष्ट पदों का उल्लेख है, यथा—सर्वगः, सर्वशरीरभृत् विश्वकर्मा, विश्वरूप, चेतनाधातु, अतीन्द्रिय, नित्ययुक्, सानुशय। इनमें चेतनाधातु एवं अतीन्द्रिय को छोड़कर बाकी सभी परमात्मा के विशेषण स्वरूप में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं।

तृतीय प्रश्न का उत्तर सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक शरीर) की ओर संकेत करता है जो पृथक् से वर्णनीय है।

3. अक्षर एवं अलक्षण ब्रह्म–

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते।
गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति।। (च.शा. 1/154-155)

अर्थात् इसके बाद परम ब्रह्मस्वरूप भूतात्मा (जीवात्मा) सभी भावों (बुद्धि-अहङ्कार आदि लक्षणों) से रहित होकर जीवात्मा प्राप्त नहीं होता है अर्थात् पहचाना नहीं जाता। वह जीवात्मा अक्षर होता है और उसका कोई चिह्न नहीं रहता है और यहाँ ब्रह्म को जानने वाले विद्वानों को ही ब्रह्म का ज्ञान होता है अज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म को जानने में समर्थ नहीं होते हैं।

4. ब्रह्मभूत भूतात्मा –

मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया में सबसे पहले क्रियासंन्यास होता है उसके बाद ब्रह्मभूत भूतात्मा (जीवात्मा) मोक्षप्राप्ति करता है। इस स्थिति का निर्देश करते हुए महर्षि चरक ने परमात्मा को अक्षर और अलक्षण भी कहा है (चरक.शरीर.1/155-156)।

5. परमात्मा के लिङ्ग

महर्षि चरक ने"प्राणापानौ निमेषाद्याः" आदि परमात्मा के लक्षणों का निर्देश किया है, यथा—

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणं च यत्।।70।।

देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा।।71।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः।।72।।

यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः।।73।।

शरीरं हि गते तस्मिञ् शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते।।74।। (*चरक. शरीर* 1/ 70-74)

यद्यपि ये परमात्मा के लक्षण (लिङ्गानि परमात्मनः) कहे गए हैं तथापि ये सभी उस परमात्मा के लक्षण हैं जो परमात्मतत्त्व (आत्मा)राशिपुरुष में आबद्ध स्वरूप में संस्थित रहता है। अतः मोक्षप्राप्ति के समय वह अलक्षण है और उसके पहले सलक्षण (प्राणापानौ.. आदि लक्षणों के सहित) है, अतः अक्षर के साथ अलक्षण को भी परमात्मा के पर्याय में परिगणित किया जाना चाहिए।

यहाँ कहे गए "प्राणापानौ" आदि सभी लक्षण उस परमात्मा के हैं जो राशिपुरुष में प्रतिबन्धित रहने के समय एवं उससे पहले तथा बाद में अव्यक्त से व्यक्त एवं व्यक्त से अव्यक्त होने की चक्रवत् प्रक्रिया से युक्त होता है, लेकिन जब वह इस प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है जिसे कि मोक्ष की स्थिति माना जाता है उस रूप में ये लक्षण उस परमात्मा के नहीं होते जिस के पर्याय के रूप में हेतु, कारण, निमित्त, अक्षर, कर्ता आदि को कहा गया है ।

वैशेषिक दर्शन में भी आत्मा के लक्षणों को बताते हुए लगभग उपर्युक्त "प्राणापाननिमेषोन्मेषादि" को ही कहा गया है, यथा—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराःसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।(वैशेषिक सूत्र. 3/2/4)

6. आत्मा (परमात्मा) का निष्क्रियत्व

वह आत्मा राशिपुरुष में निष्क्रिय स्वरूप में रहता हुआ केवल द्रष्टा रहता है (द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः-चरक), द्रष्टा की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि—

द्रष्टा साक्षी; तेन यतिर्यथा परमशान्तः साक्षी सञ्जगतः क्रियाः सर्वाः पश्यन्न रागद्वेषादिना युज्यते, तथाऽऽत्माऽपि सुखदुःखाद्युपलभमानोऽपि न रागादिना युज्यते; दृश्यमानरागादिविकारस्तु मनसि, प्राकृतबुद्धौ वा साङ्ख्यदर्शनपरिग्रहाद्भवतीति भावः। साङ्ख्यमते च मनःशब्देन बुद्धिरन्तःकरणं च गृह्यते। *(चरक. सूत्र. 1/56 पर चक्रपाणि)*

लेकिन आबद्ध रहने से वह यहाँ राशिपुरुष में कर्ता के रूप में परिगणित होता है क्योंकि वह चेतनावान् होता है, यथा—

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः।।
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते।। (*च. शा.* 1/ 75-76)

यह उस प्रश्न का उत्तर है जो अध्याय के प्रारंभ में अग्निवेश ने भगवान्आत्रेय को अन्य प्रश्नों के साथ किया गया है, यह प्रश्न है-निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन्! विद्यते कथम्। (*च.शा.* 1/6)

7. परमात्मा एवं राशिपुरुषस्थ आत्मा का पार्थक्य

हेतु, कारण, निमित्त, अक्षर, कर्ता आदि ये पर्याय उसी के लिए हैं जोकि अक्षर है, ब्रह्म है,केवल गुणी, ग्रहण, पुद्गल, मनोजव एवं इन्द्रियात्मा इन पाँच को राशिपुरुष में संस्थित परमात्मा के अंश के लिए ही विशेष रूप से प्रयुक्त मानना अधिक उपयुक्त है, जो मुक्त स्वरूप में परमात्मतत्त्व है (अक्षर है, ब्रह्म है) उसके लिए इन पाँच पर्यायों का प्रयोग उपयुक्त नहीं है।

महर्षि चरक के अनुसार शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व एवं आत्मा का संयोग आयु है। इस आयु का अस्तित्व चैतन्यस्वरूपक आत्मा से ही है।चक्रपाणि का मानना है कि यहाँ आत्मा ज्ञान प्रतिसन्धाता है जब तक वह इन शरीर आदि के साथ संपृक्त है तब तक ही इस राशिपुरुष (स्थूल शरीर) में चैतन्य है तथा जब तक इन सब

का संयोग है आयु भी तभी तक है।संयोग का अभाव होने पर मृत्यु होती है जो कि आयु का उपरम ही है। मृत शरीर में चैतन्य का अभाव होने से आयूरूप संयोग का भी अभाव हो जाता है, यथा—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगजन्या चैतन्यानुवृत्तिर्यथोक्तसंयोगाव्यभिचारित्वेन व्यक्तत्वेन चार्थे दशमहामूलीये लक्षणत्वेनोक्ता; शरीरादिसंयोगरूपमेव त्वायुः परमार्थतः; एवम्भूतसंयोगाभावे मरणमायुरूपरमरूपं भवति, मृतशरीरे तु चेतसोऽभावादायूरूपसंयोगाभावः। *(च. सू.1/42 चक्रपाणि)*

यहाँ इस संयोग में जिस चैतन्य को व्यक्त करने वाले आत्मा की संस्थिति मानी गई है वह आत्मा यहाँ प्रतिबन्धित कर्म कर्मानुबन्धस्वरूप में संस्थित है, अतः रजस् एवं तमस् से आविष्ट होने पर यह चक्रवत्(जन्म-मृत्यु के चक्र में) घूमता रहता है। मोक्ष होने पर यह कर्मानुबन्धित आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है।

अतः परमार्थतः दोनों में ऐक्यभाव है, पुनरपि इन दोनों में व्यावहारिक रूप में सृष्टि की संस्थिति के कारण अंतर है। अतः राशिपुरुष में स्थित आत्मा एवं परमात्मा दोनों की पृथक् स्थिति स्वीकार की जानी चाहिए तभी तो जन्म-मृत्यु का अस्तित्व होगा, उसके साथ ही सुख एवं दुःख की स्थिति मानी गई है। पारमार्थिक रूप से मोक्ष के समय इस कर्मानुबन्धित आत्मा के परमात्मा में लीन होने पर निःशेष निवृत्ति हो जाती है (शरीर आदि से संयोग पूर्णरूपेण समाप्त हो जाता है)—

मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः।।(च.शा.1/137)

मोक्ष आत्यन्तिकशरीराद्युच्छेदः। निःशेषेति न पुनर्भवति। (च.शा.1/137 चक्रपाणि)

इस संपूर्ण वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि *चरकसंहिता* में परमात्मविवेचन का वैशिष्ट्य है। चरकसंहिता में परमात्मा के विवेचन में जो दार्शनिक भाव हैं उनमें भगवान् आत्रेय तथा महर्षिअग्निवेश से लेकर महर्षि चरक एवं दृढबल तक एक वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है जो विभिन्न दर्शनों से साम्यभाव रखते हुए भी एक विशिष्ट दर्शन के स्वरूप को भी सङ्केतित करता है।

(1) बी.ए.एम. एस., आयुर्वेद-वाचस्पति (एम.डी. आयुर्वेद),
असिस्टेंट प्रोफेसर, स्वस्थवृत्तविभाग
महात्मा ज्योतिबा फुले आयुर्वेद महाविद्यालय
हाड़ोता, चोमू, जयपुर (राजस्थान)
एवं
(2) (म.म. राष्ट्रपति सम्मानित) पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर एवं
पूर्व कुलपति,
डॉ. एस.आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर।
आवास-80 चम्बल मार्ग, सेन कालोनी, प्रेमनगर, झोटवाड़ा, जयपुर-302012
चलवाणी-9829077697

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मनस् तत्त्व की संकल्पना एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. नवीन दीक्षित

सारांश (Abstract)

कूट-शब्दः- अद्वैत वेदान्त, मनस् अन्तःकरण, चेतना, जड़ प्रकृति-परिणाम, नित्य, सावयव ।

इस शोध पत्र में अद्वैत वेदान्त के दृष्टिकोण से 'मनस्' तत्त्व या मन की संकल्पना को समझने का प्रयास किया गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अन्तःकरण का एक पहलू मनस् या मन है। इस शोध पत्र में मनस् की वेदांतिक अवधारणा, इसकी उत्पत्ति, इसकी प्रकृति और गतिविधियों के बारे में चर्चा की गई है। इन बिंदुओं को चार मुख्य खण्डों में विभाजित करके तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक शोध प्रविधि के माध्यम से विषय को प्रस्तुत किया गया है। मनस् इन्द्रियगोचर तत्त्व नहीं है, इसलिए प्रथम प्रश्न इसके अस्तित्व के सम्बन्ध में उपस्थित होता है इसलिए प्रथम खण्ड में मनस् के अस्तित्व के सम्बन्ध में विभिन्न तर्कों पर विचार किया गया है। दूसरा खण्ड मन की प्रकृति से सम्बन्धित है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय मन की अचेतन प्रकृति को सर्वसम्मति से स्वीकार करते हैं। कुछ इसको एक अंतरिन्द्रिय मानते हैं अद्वैत वेदान्त इसे एक अंतःकरण मानता है। सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय, मनस् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्रदर्शित करते हैं। मनस् का यह तत्त्वमीमांसीय पहलू तीसरे खण्ड की विषयवस्तु है। जहाँ अधिकांश भारतीय दर्शन मनस् को एक स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं, वहीं अद्वैत वेदान्त दर्शन इसे एक परतंत्र द्रव्य स्वीकार करता है। यद्यपि विभिन्न सम्प्रदाय तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से भिन्न विचार प्रकट करते हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे काफी हद तक सहमत हैं। इन्द्रिय एवं आत्मा के मध्य वे सभी इसकी मध्यस्थ स्थिति को कम या अधिक महत्व देते हैं; किन्तु वे सभी इस बारे में सहमत हैं कि चेतना अंतः या बाह्य रूप से आत्मा के साथ सम्बद्ध है। भारतीय दर्शन का कोई भी सम्प्रदाय चेतना को मनस् से संयुक्त नहीं करता है सभी मनस् को जड़ मानते हैं। अद्वैत वेदान्त को छोड़कर सभी सनातनी सम्प्रदाय इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत करते हुए भी इसे नित्य मानते हैं। सांख्य में यह प्रकृति-परिणाम है तो वैशेषिक में यह एक-आण्विक एवं नित्य द्रव्य है। अद्वैतवादियों के लिए यह अनित्य, सावयव एवं अविद्याजन्य है। उनके अनुसार अन्तःकरण की गतिविधि इसके चतुर्विध आयाम में सन्निहित है। यद्यपि ज्ञान के विभिन्न स्रोतों या करणों (प्रमाणों) में अन्तःकरण की भूमिका प्रकट होती है, किन्तु इस शोध पत्र में केवल प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तःकरण की भूमिका पर

विचार किया गया है। इसमें अन्तःकरण के विषय की ओर बाहर जाने उसके विषयाकार होने तथा आत्म- चैतन्य का इस विषयाकार - वृत्ति पर प्रतिबिंबित होना शामिल है। शोध पत्र के चतुर्थ खण्ड में इन्ही तीन बिंदुओं पर चर्चा की गई है।

(1)

सर्वप्रथम, हम इस विमर्श का आरम्भ सामान्य रूप से भारतीय दर्शन में तथा विशेष रूप से अद्वैत वेदान्त में मन की संकल्पना पर हुए विचार से करते हैं। संस्कृत शब्द 'मनस्' का अंग्रेजी पर्याय माइंड (Mind) है। यद्यपि दोनों शब्द कुछ सीमा से एक-दूसरे से मिलते हैं, फिर भी उनमें महत्वपूर्ण अंतर हैं, जिन्हें नहीं भूलना चाहिए। मन की संकल्पना के सम्बन्ध में प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हमें मन जैसे किसी अन्य साधन या करण की आवश्यकता क्यों है? दार्शनिकों ने मन के अस्तित्व और इसके प्रमाणों के सम्बन्ध में विमर्श किया है। कुछ यूरोपीय चिन्तक भौतिकवादी और कुछ व्यवहारवादी मन या आत्मा को शरीर की ही किया में सीमित कर देते हैं। चार्वाक दर्शन की 'आत्मा' की संकल्पना के समान उनका दृष्टिकोण है। लेकिन ज्ञान जैसी चेतन गतिविधि को दैहिक किया या संगति के आधार पर नहीं समझाया जा सकता है। यांत्रिक या संवेदनाओं के प्रति अचेतन तंत्रिका तंत्र की प्रतिक्रिया सोद्देश्य नहीं हो सकती। इच्छा, आत्म-संकल्प को प्रदर्शित करती है और यह विकसित चेतना के बिना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त, इन विचारों का समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि विषयगत सत्ता किसी भी रूप में विषयीरूप नहीं हो सकती है। ज्ञान विषयी से सम्बन्धित है। ज्ञान को केवल इंद्रियों में ही सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ नश्वर हैं। इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान स्मृति में विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान को इन्द्रियों में ही सीमित नहीं कर सकते। कोई विशेष इन्द्रिय नष्ट हो सकती है लेकिन उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान स्मृति के रूप में बहुत काल तक विद्यमान रहता है। अतः मन जैसे किसी इन्द्रियतर तत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रसंग में न्यायसूत्र के निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं :

"मन को न तो इन्द्रिय में और न ही विषय में ही सीमित किया जा है क्योंकि यह तो इन दोनों के नष्ट हो जाने के बाद भी जीवित रहता है (नेंद्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽज्ञानवस्थानात्) । यदि ज्ञान इन्द्रियों का एक गुण हो तो वह इन्द्रिय के नष्ट हो जाने के बाद अस्तित्व में नहीं रह सकता लेकिन स्मृति के रूप में ज्ञान वस्तुतः इन्द्रिय के नष्ट हो जाने के बाद भी विद्यमान रहता है अतएव ज्ञान इन्द्रिय में विद्यमान नहीं रहता है। इसी के समान यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि ज्ञान विषय में भी विद्यमान नहीं रहता है।"[1]

इस प्रकार नैयायिक यह सिद्ध करते हैं कि एक व्यक्तिनिष्ठ तत्त्व आवश्यक है। अद्वैत वेदांतियों को यह तर्क मान्य है। लेकिन जहाँ नैयायिक यह मानते हैं कि आत्मा, ज्ञान-गुण का आश्रय है, वहीं अद्वैती के लिए ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप ही है। दैनिक जीवन के अनुभव से भी मन की इन्द्रियों एवं विषय से पृथक् सत्ता प्रमाणित होती है। विषय के साथ इन्द्रियों के संयुक्तीकरण के बाद भी हम वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाते हैं क्योंकि मन या इसके जैसा इन्द्रियों के परे का कोई द्रव्य वहाँ असंयुक्त रहता है अन्यमयस्कता, प्रगाढ़ निद्रा

एवं पूर्ण तन्मयता के अनुभव, इन्द्रियों से परे के एक तत्त्व की ओर इंगित करते हैं। यही तत्त्व मन है। इस सम्बन्ध में डॉ. सतीश चन्द्र चटर्जी के निम्नलिखित कथन प्रासंगिक हैं:

"किसी वस्तु को जानने के लिए मन का इन्द्रियों के माध्यम से उसे ग्रहण करना आवश्यक है। हम अन्यमयस्कता की स्थिति में वस्तुओं को नहीं जान पाते हैं, यद्यपि हमारी इन्द्रियाँ उनके भौतिक सम्पर्क में रहती हैं।"[2]

इस प्रकार इंद्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व के संयोग की आवश्यकता है अन्यथा अन्यमयस्कता जैसे अनुभव नहीं होंगे। इसके विपरीत यदि ज्ञान एवं इंद्रियों के मध्य मन जैसा कोई मध्यस्थ तत्त्व उपस्थित नहीं होता तो सभी इंद्रियानुभव, ज्ञान में परिणत हो जाते। इसके अतिरिक्त, नैयायिक अग्रलिखित रीति से अपने तर्क को आगे बढ़ाते हैं वे मानते हैं कि विशिष्ट ज्ञान के लिए एक साधन या करण की आवश्यकता होती है। बाह्य प्रत्यक्ष के लिए हमें चक्षु श्रोत्र और घ्राण इंद्रिय की आवश्यकता होती है और इसी प्रकार आन्तर प्रत्यक्ष के लिए हमें विशेषतः मन की आवश्यकता होती है। नैयायिक इसे एक स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं, तथापि यह एक साधन है। यह आत्मा और इंद्रियों के बीच मध्यस्थ स्थिति में रहता है। इनके बीच उचित संबंध की आवश्यकता होती है, अन्यथा विषय का ज्ञान नहीं होता है आत्मा को सुख और दुःख जैसी मानसिक स्थितियों को जानने के लिए मन की आवश्यकता होती है।

मन के अस्तित्व के प्रमाण के संबंध में, शंकर को नैयायिकों द्वारा दिए गए उपर्युक्त तर्क स्वीकार्य हैं।[3] इसके साथ ही अद्वैतियों के मतानुसार, मन का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। तथापि, अद्वैत वेदांती इसके अस्तित्व को तर्कों के द्वारा भी सिद्ध करते हैं। इसके पक्ष में ब्रह्मसूत्र के (2.3.32) जैसे स्थलों का संदर्भ दिया जा सकता है। इसके अनुसार आत्मा, इंद्रियों और विषय की संगति ही ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वे तो समग्र अनुभव में उपस्थित रहते हैं। यदि ऐसा होता तो या तो ज्ञान हमेशा के लिए होता या कभी नहीं होता। चूँकि ज्ञान कभी होता है और कभी नहीं होता इसलिए हम किसी दूसरे तत्त्व के अस्तित्व को मानने के लिए विवश होते हैं।

विस्तृत विवरण के लिए उपर्युक्त उल्लेखित सूत्र पर शंकर के भाष्य को देना प्रासंगिक है। शंकर के निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं :

"एक अन्तः इन्द्रिय (अन्तःकरण) को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है, जिसकी बुद्धि केवल एक घटक है? सूत्र का कथन है कि यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाए तो इंद्रियाँ तो उनके विषयों के साथ सदैव सम्पर्क में रहती हैं, तब आत्मा, इंद्रियों और विषयों आदि की सभी आवश्यक परिस्थितियों के उपस्थित होने के कारण सभी विषयों का प्रत्यक्ष होगा। तथापि, यदि इसका निषेध किया जाए तो इसका अर्थ होगा कि कभी ज्ञान नहीं होगा और कभी भी कुछ अनुभव नहीं होगा। अतएव प्रतिपक्षी को आत्मा या इंद्रियों में से किसी एक की शक्ति की सीमा को स्वीकार करना पड़ेगा। आत्मा के अपरिवर्तनशील होने से उसमें ऐसी कोई बात संभव नहीं है इंद्रियों की शक्ति के बारे में भी ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसकी शक्ति न तो पूर्व के क्षण में और न ही बाद के

क्षण में ही अवरुद्धहोती है तो मध्यवर्ती क्षणों में वह भला क्यों अवरुद्ध होगी। इसलिए हमें एक अंतरिन्द्रिय (अन्तःकरण) को स्वीकार करना पड़ेगा जिसके संयोग एवं वियोग से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है एवं नहीं होता है।"[4]

इसप्रकार उपर्युक्त उद्धरण एक ऐसे तत्त्व के अस्तित्व को सिद्ध करता है जो न तो आत्मा हो सकती है। और न ही इंद्रिय । अब मन के अस्तित्व की सिद्धि के उपरान्त इसके स्वरूप की विवेचना की जा सकती है।

(2)

मन के स्वरूप को समझना बहुत कठिन है, क्योंकि मन बहुत सूक्ष्म होने के साथ-साथ प्रच्छन्न भी है। मीमांसा दर्शन के प्रभाकर एवं भाट्ट सम्प्रदाय, सांख्य दर्शन, न्याय एवं वैशेषिक दर्शन जैसे सभी आस्तिक भारतीय दर्शन, मन को एक अंतरिन्द्रिय मानने के बारे में सहमत हैं और वे मानते हैं कि इसी के माध्यम से आत्मा द्वारा सुख और दुःख जैसी मानसिक अवस्थायें साक्षात् रूप से जानी जाती हैं। इसके साथ ही वे मन को अचेतन मानने के बारे में भी परस्पर सहमत हैं। पहले मन के अचेतन स्वरूप पर ही विचार किया जाए।

पाश्चात्य दर्शन के इस विचार से कि चेतना मन का विशेष लक्षण हैं; उपर्युक्त दृष्टिकोण पूर्णतः विपरीत है भारतीय चिन्तक चेतना को आत्मा का गुण या आत्मा के ही समरूप मानते हैं। मन एक अंतःकरण है। यह अचेतन है क्योंकि स्वयं इसे अपना बोध नहीं है बल्कि इसका ज्ञान, आत्मा द्वारा होता है। सांख्य दर्शन ने मन की प्रकृति पर जोर देते हुए इसे 'अहंकार तत्त्व से विकसित माना है अहंकार तो अंततः प्रकृति' का ही परिणाम है और प्रकृति से तो यह सम्पूर्ण भौतिक जगत् ही विकसित होता है। अचेतन मन, जड़ होने से आत्मा या 'पुरुष' से पूर्णतः भिन्न है क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही चेतना है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मन तो भौतिक देह और आध्यात्मिक आत्मा दोनों से भिन्न है। मन उन्हीं भौतिक पदार्थों से मिलकर बना है, जिससे यह स्थूल भौतिक देह निर्मित हुई है। लेकिन मन की उत्पत्ति इन पदार्थों के सूक्ष्मतम भागों से होती है। यद्यपि मन चेतना को प्रतिबिंबित करता है, किन्तु मन को आत्मा के समरूप नहीं किया जा सकता है मन, ज्ञान का विषय है। चूँकि यह ज्ञान तथा अनुभव का विषय है इसलिए यह ज्ञाता नहीं हो सकता। विषयी एवं विषय दोनों एक ही नहीं हो सकते। ज्ञाता मन से पृथक् है क्योंकि यह मन की कल्पना करता है और उसका निरीक्षण करता है। मन का आत्मनिरीक्षण के द्वारा साक्षात् निरीक्षण किया जा सकता है। मन में चेतना आंतरिक रूप से विद्यमान नहीं है ज्ञाता में चेतना अंतःस्थ है। ज्ञाता स्वचेतन एवं स्वयंज्योति है। मन ज्ञान से रहित है। ज्ञान का कोई भी विषय चेतना से रहित है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार, मिट्टी के किसी ढेले जैसे बाह्य विषय के समान जो चेतना से रहित, भौतिक और अंधकारमय होता है, वैसे ही मन भी जड़ एवं अंधकारमय है।

पाश्चात्य दर्शन में जिस प्रकार से मन एवं पदार्थ के मध्य भेद है, वैसा भेद वेदान्त दर्शन में नहीं है। वेदान्त दर्शन में तो केवल आत्मा ही स्वयंज्योति एवं ज्ञाता है। वेदान्त में मन को अन्तःकरण कहते हैं। सांख्य-योग एवं

मीमांसा दर्शन में इसे "इंद्रिय" कहते हैं।[5] इसे इंद्रिय कहे जाने के दो कारण हैं प्रथमतः, यह सुख एवं दुःख के गुणों को ग्रहण करने के कारण इंद्रिय के रूप में स्वीकार किया जाता है। द्वितीयतः, यह एक माध्यम है जो कि ज्ञेय एवं ज्ञाता के मध्य की मध्यस्थ स्थिति है। दूसरे शब्दों में जिसप्रकार से स्पर्श एवं गंधादि का बाह्य प्रत्यक्ष बाह्य इंद्रियों पर निर्भर करता है, उसी प्रकार से सुख, दुःख एवं इच्छा आदि का आंतर प्रत्यक्ष, एक अंतरिन्द्रिय पर निर्भर करता है, जो कि मन है। न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष को इंद्रियार्थ सन्निकर्ष के पदों में परिभाषित किया जाता है। यदि मनस् को इंद्रिय नहीं माना जाए तो आंतर प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। इस कारण से न्याय दर्शन मनस् को इंद्रिय मानता है। अद्वैतियों एवं अन्य दार्शनिकों के मध्य, मनस् के इंद्रिय होने अथवा नहीं होने के सम्बन्ध में मतभेद का यह एक बिंदु है। नैयायिकों के लिए मनस् एक साधन है जिसके माध्यम से आत्मा आंतर प्रत्यक्ष का ज्ञान प्राप्त करती है। अद्वैती सोचते हैं कि मनस् या अन्तःकरण को इंद्रिय नहीं माना जा सकता है। नैयायिक मानते हैं कि आत्मा जैसे इंद्रियाँ अपने संगत बाह्य विषयों का ग्रहण सुख-दुःखादि का ग्रहण, मनस् के माध्यम से करती है करती हैं, वैसे ही मनस् भी अपने आंतर विषयों का ग्रहण करता है और इसी के माध्यम से आत्मा को सुख - दुःखादि आंतर विषयों का ज्ञान होता है। इस समानता के कारण मनस् को एक इंद्रिय के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। लेकिन मन की गतिविधि केवल आंतर प्रत्यक्ष तक ही सीमित नहीं है। इसका कार्य बाह्य प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान आदि अन्य प्रमाणों में देखा जाता है। अतएव इसे पूर्णतः एक ज्ञानेन्द्रिय के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यह अंशतः एक ज्ञानेन्द्रिय है और अंशतः नहीं भी है। वस्तुतः स्वयं नैयायिकों ने इस कठिनाई को समझा और इसे ज्ञानेन्द्रिय एवं करण इन दोनों ही रूपों में स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त बाह्य प्रत्यक्ष के संदर्भ में मनस् को इंद्रिय नहीं माना जाता है। इंद्रिय को एक करण और असाधारण कारण होना चाहिए। बाह्य प्रत्यक्ष में शामिल ज्ञानेन्द्रिय प्रत्यक्ष का असाधारण कारण है जबकि बाह्य प्रत्यक्ष एवं अन्य प्रकार के प्रमाणों में मनस् ज्ञान का साधारण कारण है। अतएव बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान में मनस् इंद्रिय नहीं हो सकता है। अनुमान, स्मृति एवं कल्पना के ज्ञान में कठिनाई उत्पन्न होती है जहाँ मनस् को करण या असाधारण कारण माना है, वहाँ वह एक इंद्रिय है। यदि मनस् को एक इंद्रिय माना जाए तो ज्ञान के इन प्रकारों को भी प्रत्यक्ष मानना होगा।"[6]

उपनिषदों में मनस् और इंद्रिय की पृथक्ता का उल्लेख किया गया है। *कठोपनिषद्* मनस् को इंद्रिय से निम्नलिखित रीति से अलग करता है—

"इंद्रियार्थ से परे इंद्रियाँ हैं, इंद्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और महान आत्मा बुद्धि से भी परे है"।[7](इंद्रियेभ्यः परार्था अर्थेभ्यश्च परम मनः । मनसतु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा मनापराः) (कठ उपनिषद् - 3.10)

इसी उपनिषद् में, रथ और रथी की उपमा के द्वारा मन की पृथक्ता को समझाया गया है।[8] यहाँ न केवल मनस् की इंद्रिय से पृथक्ता प्रदर्शित की गई है, वरन् मनस् को इंद्रियों से अधिक उच्च स्तर दिया गया है। *मुण्डकोपनिषद्* में भी किसी अन्य संदर्भ में ही सही, मनस् और इंद्रिय की यह पृथक्ता दृष्टिगोचर होती है।

इसका कथन है: "उससे (परम्) प्राणशक्ति और मनस् और इंद्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। (इतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियानि च) " (*मुण्डकोपनिषद्* - 2.1.3) किन्तु कुछ स्मृतियों में, मनस् को प्रायः ग्यारह इंद्रियों में से एक इंद्रिय माना गया है। ये हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मनस् । अद्वैत वेदांतियों और इस विचार के मध्य विरोध दिखाई देता है। वेदांती, स्मृति के पहले श्रुति - उपनिषदों- का प्रमाण स्वीकार करते हैं। वस्तुतः *ब्रह्मसूत्र* (2.4.17) पर भाष्य लिखते हुए शंकर का इस भेद की और ध्यान गया है। इस सूत्र में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि क्या दर्शनेन्द्रिय जैसी इंद्रियाँ प्राण शक्ति का ही परिणाम हैं या फिर स्वतंत्र तत्त्व हैं ? प्रतिपक्षी शास्त्र (*बृहदारण्यक उपनिषद्* 1.5.21) को उद्धृत करके प्रथम दृष्टिकोण को अंगीकार करता है। शंकर एक अन्य शास्त्र (*मुण्डक उपनिषद्* 2.1.3) को इस टिप्पणी के साथ उद्धृत करके इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हैं कि बृहदारण्यक उपनिषद् के कथन को गौण अर्थ में लेना चाहिए।[9] शंकर का मत वही है जो श्रुति का है कि मन को इंद्रिय नहीं स्वीकार किया जा सकता है। डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त ने भी शंकर के विचारों से यही निष्कर्ष निकाला है।

वाचस्पति मिश्र और गोविंदानंद आदि बाद के कुछ लेखकों के विचार से, मनस् एक इन्द्रिय है। उन्होंने शंकर के दृष्टिकोण को कुछ इस रीति से व्यक्त किया है कि वह स्मृतियों के दृष्टिकोण के निकट है। डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त ने ऐसा किये जाने के कारण का अनुमान निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :

"ऐसा करने में वे विरोध को हटाने के लिए श्रुतियों की इसप्रकार से जरूरी व्याख्या करते हैं। वे सोचते हैं कि मनस् के इंद्रियों से पृथक् उल्लेख का अभिप्राय यह नहीं है कि मनस् एक इंद्रिय नहीं है। यह तो कहने की विशिष्ट शैली भर है जो कि "पशु और बैल" या "ब्राह्मण और परिव्राजक जैसे वाक्यांशों में मिलती है जहाँ यद्यपि दूसरा पद पहले पद में ही अंतर्निहित है, फिर भी उसका अलग से उल्लेख केवल विशेष जोर देने के लिए किया गया है।"[10]

पंचदशी के लेखक वाचस्पति मिश्र का अनुसरण करते हैं और यह विचार रखते हैं कि मनस् एक अंतरिन्द्रिय है। *वेदान्त-परिभाषा* के लेखक श्रुति के दृष्टिकोण को ग्रहण करते हैं क्योंकि वह विवरण सम्प्रदाय के विचार को मानते हैं। उनके तर्क का मुख्य समर्थन श्रुति है। वह *भगवद्गीता* एवं कुछ अन्य स्मृतियों का इस रीति से उद्धरण देते हैं कि वे श्रुति के दृष्टिकोण के समान हो जाते हैं। वे अपने तर्क का आरम्भ यह कहकर करते हैं कि अन्तःकरण के इन्द्रिय होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। इसके विरोध में . "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि (मन जिनमें छठा है ऐसी इन्द्रियाँ) *भगवद्गीता* का यह वचन यदि उद्धृत किया जाए तो उनके अनुसार यह उचित नहीं है क्योंकि इस वाक्य में इन्द्रियगत षट् संख्यात्व की पूर्ति, (यहाँ अनिन्द्रिय) मन से की गई है। ऐसी पूर्ति तो मन न हो तो भी की जा सकती है। अपने इस मत के बचाव में वे वेद, उपनिषद एवं महाभारत से ही उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। पहले वे वेद के कथन "यजमान पञ्चमा इडां भक्षयन्ती", को उद्धृत करते हुए इस वैदिक वाक्य में ऋत्विजों में रही हुई पंचत्व संख्या की पूर्ति ऋत्विजों से भिन्न यजमान शब्द से

की गई हुई बताते हैं। इसको आधार बनाकर वे निष्कर्ष निकालते हैं कि ऐसा कोई नियम तो नहीं है कि इन्द्रियगत संख्या की पूर्ति इन्द्रिय से ही हो। यह पूर्ति इन्द्रिय से भिन्न भी हो सकती है। इसके पश्चात् वे महाभारत से ऐसा ही उद्धरण देते हैं "जिन में पाँचवाँ महाभारत है, ऐसे वेदों को पढ़ाया (वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्) इस स्मृतिवाक्य में वेदगत पंचत्व संख्या की पूर्ति, वेदभिन्न महाभारत से की गई देखी जाती है। इसके पश्चात् वे *कठोपनिषद्* (1/3/10) के वाक्य - "इंद्रियों से परे अर्थ हैं और अर्थों से परे मन है (इन्द्रियेभ्यः परा अर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः) के आधार पर स्पष्टतः मन की इंद्रियों से पृथक्ता तथा उच्चतर अवस्था को स्थापित करते हैं। इसप्रकार कि मनस् या अन्तःकरण को ज्ञानेन्द्रिय के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।"[11] वह यह सिद्ध करते हैं।

व्यापक अर्थ में "इंद्रिय" ज्ञान का साधन हो सकती है किन्तु ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से इसका सीमित अर्थ है नैयायिक आंतर प्रत्यक्ष को मन की साधनरूपता के पदों में परिभाषित करते हैं। आंतर प्रत्यक्ष के साथ बाह्य प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान भी मनस् के क्रिया के क्षेत्र में आते हैं। अतएव इंद्रिय के अर्थ में, मनस् को इंद्रिय नहीं स्वीकार किया जा सकता है। मनस् को एक अर्थ में इंद्रिय स्वीकार किया जा सकता है और एक अर्थ में नहीं किया जा सकता है। नैयायिकों ने स्वयं इस समस्या को दूर करने के प्रयास किए हैं। मनस् को कब इंद्रिय माना जाए और कब इंद्रिय न माना जाए ? किन्तु उनका विचार स्वैर है। इसके विपरीत, वेदांती इस संदर्भ में, प्रत्यक्ष को इंद्रियार्थ सन्निकर्ष के पदों में परिभाषित नहीं करते हैं। वे प्रत्यक्ष को इंद्रियजन्य साक्षात् ज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं। इंद्रियार्थ सन्निकर्ष नहीं वरन् साक्षात्कारिता (अपरोक्षकारिता). प्रत्यक्ष ज्ञान का सहज लक्षण है। सुख जैसे आंतर विषय के सम्बन्ध में वेदान्त का दृष्टिकोण यह है कि यह तो अन्तःकरण या मनस् का ही एक पर्याय है और आत्मा को इसका ज्ञान बिना किसी अन्य माध्यम के सीधे ही होता है। अन्य दर्शन जो इस कारण से मनस् को एक इंद्रिय मानने के लिए विवश होते हैं, वह वेदांतियों पर लागू नहीं होता है।

एक अन्य बिंदु विचारणीय है। ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में वेदान्तीय दृष्टिकोण नैयायिकों के दृष्टिकोण से पूर्णतः भिन्न है। नैयायिक ज्ञान को उत्पाद मानकर उसे मनस् के माध्यम से उत्पन्न हुआ मानते हैं। अद्वैतवादियों के मत में ज्ञान पहले से ही विद्यमान होता है, वह मनस् के द्वारा संवर्धित भर होता है। इस खण्ड का समापन, डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त की निम्नलिखित टिप्पणी के द्वारा किया जाना प्रासंगिक होगा, जो हमारे मत के अनुकूल है

"यद्यपि कुछ वेदांती अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के अधिकतर दार्शनिकों के समान, मनस् या अन्तःकरण को एक इंद्रिय मानते हैं, किन्तु विवरण सम्प्रदाय के लेखकों एवं *वेदान्त परिभाषा* के द्वारा समर्थित इसके विपरीत का सिद्धांत वेदान्तीय सम्प्रदाय के सामान्य दृष्टिकोण के अधिक अनुरूप है"।[12]

मनस् की उत्पत्ति के संदर्भ में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय विभिन्न विचार रखते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार मनस् एक सूक्ष्म पदार्थ (अहंकार) का अचेतन कार्य (उत्पाद) है।[13] न्याय-वैशेषिक के अनुसार

मनस् एक नित्य द्रव्य है लेकिन बाह्य इंद्रियों के विपरीत यह अभौतिक है, अर्थात् यह पृथ्वी, जल आदि किसी भौतिक तत्त्व के द्वारा निर्मित नहीं है।[14]

वेदांतियों के अनुसार मनस् अन्तःकरण के विभिन्न पहलुओं या कार्यों में से एक पहलू है। मनस् की सत्ता विषय एवं विषयी के सम्बन्ध के साथ है आत्मा, परिवर्तनशील अनुभव का अधिष्ठान या आश्रय है वेदान्त के अनुसार, पाँच प्रकार के प्राणों के साथ अन्तःकरण सूक्ष्म शरीर का निर्माण करता है। 'अज्ञान' या 'अविद्या के कारण आत्मा इस सूक्ष्म शरीर द्वारा परिच्छिन्न या सीमित हो जाती है। डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त ने अन्तःकरण की उत्पत्ति की निम्नलिखित रीति से विवेचना की है :

"अन्तःकरण अज्ञान से उत्पन्न होता है। आत्मा का भ्रमवश इस अनादि एवं मूल अविद्या से तादात्म्यीकरण, उसे वैयक्तिक बना देता है एवं इसी से अन्तःकरण कार्य के रूप में उत्पन्न होता है। आत्मा स्वयं चैतन्य है। चेतना विषय एवं विषयों के बीच के सम्बन्ध से उत्पन्न कोई आकस्मिक कार्य नहीं है। यह स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित है। इसे स्वयंप्रभा कहते हैं।"[15]

वेदान्त के मत में, अन्तःकरण भौतिक द्रव्य है। वेदांतियों ने इसकी उत्पत्ति के क्रम की भी विवेचना की है और वे इसे पंचीकरण की प्रक्रिया कहते हैं अन्तःकरण का गठन आकाश, जल, अग्नि, वायु एवं पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के सत्यांश से होता है।[16]

अन्तःकरण एवं जगत् के दूसरे अन्य सभी भौतिक पदार्थों के भौतिक उपादान एवं अन्तःकरण के भौतिक उपादान एकसमान हैं अंतर उनकी संघटना के परिमाण में निहित है। मनस् में यह क्षमता है कि वह विषय की ओर जा सकता है और उसका रूप ले सकता है। इस प्रक्रिया की व्याख्या के लिए स्वामी सत्प्रकाशानन्द को उद्धृत करना उचित होगा। वह कहते हैं:

"पाँचों सूक्ष्म द्रव्यों के सत्त्व गुणों के आपस में मिलने से मनस् (अन्तःकरण) की उत्पत्ति होती है, इसलिए वह भौतिक एवं अंशों से मिलकर बना है। इसमें जहाँ सत्य का उत्कर्ष रहता है, वहीं रजस् एवं तमस् दबे रहते हैं। मूलतः जड़ पदार्थ के शुद्धतम एवं सूक्ष्मतम सार भाग से बने होने के कारण, मनस् (अन्तःकरण) के पास यह क्षमता है कि वह फैल एवं सिकुड़ सकता है एवं ज्ञान के किसी भी विषय का रूप ले सकता है, फिर चाहे वह विषय कितना ही बड़ा या छोटा या सूक्ष्म क्यों न हो। यह तुरंत जा सकता है। यद्यपि यह हृदय में स्थित रहता है किन्तु जाग्रत् अवस्था में यह पूरे शरीर में व्याप्त रहता है। स्वप्नावस्था में यह सूक्ष्म शरीर से कम या ज्यादा गति करता है सुषुप्ति में इसका कारण शरीर में लय हो जाता है"।[17]

वेदान्त-परिभाषाकार के अनुसार अन्तःकरण के चार भिन्न पहलू या कार्य हैं, जो संशय, निश्चय, ममकार और स्मृति कहलाते हैं ये मानसिक अवस्थाएँ हैं। अन्तःकरण इन चार मानसिक अवस्थाओं को धारण करता है इसलिए कमशः मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त कहलाता है। मन का विषय संशय है, बुद्धि का निश्चय, अहंकार का 'मैं - पन', चित्त का स्मृति है।[18]

डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त ने इनकी विवेचना निम्नलिखित शब्दों में की है :

"अन्तःकरण की अनिश्चयात्मक स्थिति को 'मनस्' कहते हैं उदाहरणार्थ जब हम निश्चय न कर पाएँ कि कोई विषय 'यह' या 'वह' है अन्तःकरण की निश्चयात्मक स्थिति 'बुद्धि' है, जैसे जब हम निश्चयात्मक रूप से किसी वस्तु को "यह है" के रूप में जानें आत्मा के किसी संदर्भ में अन्तःकरण की स्थिति अहंकार है जैसा कि "मैं सुखी हूँ", जैसा ज्ञान स्मृति की स्थिति में अन्तःकरण थित है, जैसे अतीत की घटना का ज्ञान।"[19]

पंचदशीकार, अन्तःकरण के केवल दो कार्यों 'मनस्' एवं 'बुद्धि' में अन्तःकरण का भेद करते हैं। अन्तःकरण के कार्य-भेद के कारण यह विभेद है। मनस् अन्तःकरण का वह पहलू है जिसका कार्य संशय है और वह पहलू है जिसका कार्य विश्लेषण करना एवं निश्चय करना है (सर्ववृत्तिभेदेन तद्विधा मनो विमर्शरूपम् स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका)।[20] परवर्ती लेखकों के विचार में चित्त का अंतर्भाव मनस् में एवं अहंकार का अंतर्भाव बुद्धि में है वेदान्त सार के लेखक भी इस द्वि-आयामी विभाजन को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके अनुसार अहंकार का अंतर्भाव मनस् में चित्त का अंतर्भाव बुद्धि में है ये सारे वेदांती मनस् एवं बुद्धि की संकल्पनाओं एवं गतिविधि के बारे में तो एकमत हैं किन्तु वे अहंकार एवं चित्त का भिन्न आशय ग्रहण करते हैं। वे मनस् एवं बुद्धि के संबंधों के बारे में भी एकमत नहीं हैं।

इस विमर्श से हम अन्तःकरण की वेदान्तीय संकल्पना, अन्तःकरण की उत्पत्ति, उसके स्वरूप एवं उसकी गतिविधियों की सीमा को समझ सकते हैं। तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से वेदान्तीय विचार एवं अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के विचारों में बहुत अंतर है। यथा—नैयायिकों के अनुसार मनस् आत्मा के समान नित्य एवं स्वतंत्र द्रव्य है। अद्वैतवादी इस विचार को नहीं मानते। उनके अनुसार मनस् एक उत्पत्तिशील द्रव्य है। चूँकि यह उत्पन्न होने वाला द्रव्य है इसलिए यह नित्य नहीं हो सकता। यह अविद्या से उत्पन्न होता है। अन्तःकरण की आत्मा से पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं है। किन्तु सभी दार्शनिक सम्प्रदाय इस बारे में तो एकमत हैं कि मनस् आत्मा नहीं है, वह तो जड़ है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से वेदान्त सम्मत अन्तःकरण भी वह सभी कार्य निष्पादित करता है जिसे अन्य दर्शनों में मनस् द्वारा निष्पादित किए जाने का उल्लेख किया गया है। नैयायिकों एवं अन्य दार्शनिकों द्वारा इच्छा, संकल्प एवं ज्ञान आदि गुणों को आत्मा के धर्म निरूपित किया गया है किन्तु वेदांतियों के अनुसार न तो केवल आत्मा और न ही केवल अन्तःकरण ही अकेला इन गतिविधियों के लिए उत्तरदायी है। ये तो आत्मा एवं अन्तःकरण के परस्पर मिलने से उत्पन्न होते हैं।

परिमाण (आयाम या मात्रा) भी मनस् के स्वरूप से सम्बन्धित एक अन्य पहलू है। भारतीय दर्शन में परिमाण के तीन प्रकारों का उल्लेख है ये अणु, मध्यम एवं विभु हैं। अणु परिमाण अखण्ड, अविभाज्य है । मध्यम परिमाण खण्डयुक्त है विभु परिमाण अखण्ड एवं व्यापक है नैयायिक मनस् को अणु परिमाणी मानते हैं। मीमांसक मनस् को विभु परिमाणी एवं स्पंदनरहित मानते हैं वेदांती अन्तःकरण को मध्यम परिमाणी मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार

मन के अणुरूप होने के कारण ही सिर से पैर तक की घटनाओं का एकसाथ ज्ञान नहीं होता है। मन की अणुरूपता की सिद्धि के लिए यदि युगपत् ज्ञान की अशक्यता को कारण माना जाए तो मीमांसकों के अनुसार यह उचित नहीं है क्योंकि युगपतज्ज्ञानानुपपत्ति को मन का लिंग नहीं मान सकते, (एक साथ ही आपादमस्तक वेदना का ज्ञान होना) क्योंकि जैसे विभु आकाश को श्रोत्र मान लेने पर भी शब्दों की युगपद्ग्रहण- प्रसक्ति उपाधि को लेकर हटाई जाती है, वैसे ही विभु मन की भी युगपज्ज्ञानानुपपत्ति का समर्थन उपाधि को लेकर किया जा सकता है। श्रौत्र इन्द्रिय विभु आकाश की कर्णशष्कुली में स्थित है फिर भी एक साथ ही शब्दों का ग्रहण नहीं करती, बल्कि क्रम से करती है इसलिए मन भी विभु होकर क्रम से वेदना का ग्रहण करे तो इसमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए इसके लिए मन का विभु होने में कोई बाधा नहीं है। तात्पर्य यह है कि क्रम से वेदना का ज्ञान होना मन की अणुरूपता को ही सिद्ध नहीं करता। श्रोत्र इंद्रिय में विभु आकाश तत्त्व उपाधि रूप से उपस्थित है एवं यह क्रम से शब्दों के ज्ञान का साधन है। इस आधार पर तो मन की विभुरूपता भी सिद्ध की जा सकती है। इसके अतिरिक्त मन एक साथ कई विषयों से संयुक्त हो सकता है जैसे शतावधानी व्यक्ति को एक काल में ही अनेक ज्ञान होते हैं, इससे तो मन की विभुता को भी सिद्ध किया जा सकता है।

वेदांतियों के अनुसार अन्तःकरण एक परिच्छिन्न (सीमित) द्रव्य है जो खण्डयुक्त है क्योंकि यह एक उत्पन्न होने वाला द्रव्य है और प्रत्येक उत्पन्न होने वाला द्रव्य, अनिवार्यतः खण्डयुक्त या भागों से मिलकर बना होता है। अणु तथा विभु रूप पदार्थ ही निरवयव तथा नित्य होते हैं। वेदांतियों के अनुसार नैयायिकों के समान इसे भौतिक किन्तु एक आण्विक मानना तथा मीमांसकों के समान इसे विभु मानना उचित नहीं है।

वेदांतियों के अनुसार मध्यम परिमाण होने से यह शरीर परिणामी है तथा यह पूरे शरीर में सिर से पैर तक व्याप्त रहकर इंद्रियों के माध्यम से वेदनाओं को ग्रहण करता है।

इस प्रकार अब तक अन्तःकरण की संकल्पना, इसकी उत्पत्ति स्वरूप एवं गतिविधियों की चर्चा की गई है अब प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तःकरण की भूमिका पर विचार अपेक्षित है।

(4)

अन्तःकरण के कार्य के संदर्भ में यह उल्लेखनीय बात है कि केवल प्रत्यक्ष ज्ञान मात्र में ही इसकी भूमिका समाप्त नहीं हो जाती है वरन् अनुमान एवं उपमान आदि में भी इसकी भूमिका रहती है। लेकिन यहाँ केवल प्रत्यक्ष ज्ञान में इसकी भूमिका पर विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के अनुसार तीन बिंदु महत्वपूर्ण हैं। प्रथम अन्तःकरण का विषय की ओर बाहर जाना। द्वितीय, अन्तःकरण द्वारा विषय का रूप ग्रहण करना। तृतीय, आत्मा की भूमिका प्रथम बिंदु के संदर्भ में ध्यातव्य है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार जड़ वस्तुओं के समान अन्तःकरण वस्तुतः बाहर गमन करता है। अन्तःकरण सूक्ष्मतम द्रव्य है और सीमित परिमाणी है। अतएव इसकी गति लाक्षणिक न होकर वास्तविक है। वेदान्त दर्शन के अनुसार, यहाँ तक कि ज्ञान की सामग्री एकत्रित करने में भी अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियों के साथ सहयोग करता है। यह सामान्य धारणा

कि 'ज्ञानेन्द्रियाँ पहले सक्रिय होती हैं तत्पश्चात् मनस् सक्रिय होता है, वेदांतियों को रूचिकर नहीं लगती है। अचानक चुभी हुई सुई और अनपेक्षित बिजली की कड़कड़ाहट जैसी घटनाओं में, मनस् की प्रबल सक्रियता का अनुभव होता है। यद्यपि इन उदाहरणों में नियत संकल्प नहीं दिखाई देता और अवधान (ध्यान) किसी अन्य दिशा में लगा रहता है तथापि चाहे कितना ही सूक्ष्म अवधान क्यों न हो, वह इस अनपेक्षित दिशा के लिए उपलब्ध रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो ज्ञानेन्द्रियाँ खुद अपने आप स्पर्श और शब्द को ग्रहण करने में असमर्थ होतीं, जैसा कि अक्सर प्रगाढ़ निद्रा या अवधान की पूर्ण तन्मयता के दुर्लभ क्षणों में या पूर्ण शून्यचित्तता की दशा में होता है। ज्ञान की अत्यंत प्रारंभिक अवस्था में ही अन्तःकरण की सक्रियता विद्यमान रहती है, भले ही यह हमेशा अपनी सक्रियता के प्रति सचेतन न हो । अतएव इसका सार, डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त के इन शब्दों में दिया जा सकता है कि "ज्ञान की प्रक्रिया, अन्तःकरण के द्वारा आरम्भ की जाती है, यद्यपि यह चेतन संकल्प के साथ नहीं होती।''[21]

द्वितीय बिंदु के संदर्भ में कहा जा सकता है कि अन्तःकरण का बाहर जाना एवं विषय का रूप धारण करना उचित है। यदि अन्तःकरण भी उन्हीं समान उपादानों से मिलकर बना है, जिनसे कि रूपाकृतियाँ तो यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि अन्तःकरण विषयों या वस्तुओं का रूप धारण कर सकता है।

अब तृतीय बिंदु विचारणीय है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा की भूमिका से सम्बन्धित है। प्रत्यक्ष के प्रकरण में इसे इस तरह से सरलीकृत किया जा सकता है। एक अन्तःकरण वृत्ति कैसे आत्मा या ज्ञाता से जुड़ती है ? इसे जानने के लिए आत्मा और जगत् के मध्य सम्बन्ध को अनिवार्यतः समझना आवश्यक है। मधुसूदन सरस्वती एवं अप्पय दीक्षित ने इनके मध्य तीन प्रकार के सम्बन्ध सुझाये हैं। इस शोध पत्र में वेदान्त-परिभाषाकार द्वारा उल्लेखित सम्बन्ध का अनुसरण किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवात्मा सीमित तथा परिच्छिन्न है। ज्ञान का अभिप्राय अन्तःकरण के माध्यम से ज्ञाता एवं ज्ञेय के मध्य सम्बन्ध का होना है। अद्वैतवाद में परब्रह्म के बाहर कुछ भी स्थित नहीं है। अतएव जीवात्मा से स्वतंत्र होने के कारण, विषय आत्मा के प्रकाश से नहीं प्रकाशित होता बल्कि विषय के आश्रय, ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित होता है। डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त के मतानुसार "विषय के दिखाई देने या प्रकट होने का अभिप्राय यह है कि शुद्ध चैतन्य अपने आपको विषय के रूप में प्रकट करता है।''[22] अब एक कठिनाई उत्पन्न होती है कि क्यों एक ही चैतन्य कभी अपने आपको कुर्सी तथा फिर एक वृक्ष के रूप में प्रकट करता है या फिर क्यों दूर स्थित वृक्ष या कुर्सी अपने दृश्य गुणों को ही प्रकट करता है जबकि हम इसके दूसरे गुणों या गंधादि का अनुभव नहीं करते।

डॉ. धीरेन्द्रमोहन दत्त ने अद्वैत सिद्धि एवं सिद्धांतलेशसंग्रह आदि वेदान्तीय ग्रंथों के प्रकाश में इसकी निम्न रीति से विवेचना की है :

"यद्यपि जीवात्मा एवं विषय का अधिष्ठान एक समान चैतन्य है किन्तु दोनों के अभिव्यंजक भिन्न होने से एक ही चैतन्य को वे दोनों भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं। प्रत्यक्ष के संदर्भ में, अन्तःकरण के बाहर

जाकर विषय के गुण ग्रहण करने से, विशेषकर विषयी और विषय के दो पृथक् घटकों का भेद इस सीमा तक हट जाता है कि प्रमाता चैतन्य एवं प्रमेय चैतन्य के मध्य एकता स्थापित हो जाती है। अतएव इस सिद्धांत के समर्थक यह मानते हैं कि आत्मा एवं विषय के मध्य स्थित एकता (अभेदाभिव्यक्ति) के प्रकाशित होने के लिए अन्तःकरण का विषय की ओर बाहर जाना आवश्यक है।''[23]

इस प्रकार अन्तःकरण के इंद्रिय के माध्यम से विषय का रूप ले लेने से दृश्य एवं दृष्टा के मध्य का भेद दूर हो जाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अखण्ड एकरस, व्यापक चैतन्य में तो कोई भेद नहीं है। भेद तो केवल उपाधियों के कारण प्रतीत होता है। वे उपाधियाँ जब तक भिन्न देश में रहेंगी, तभी तक चैतन्य में भेद पैदा कर सकती हैं। जब वे उपाधियाँ एक देश में मिलती हैं, तब भेद नष्ट होता है। 'घट' और 'घट के सम्बन्ध से घटाकार हुई वृत्ति, इन दो उपाधियों से युक्त हुआ द्विविध चैतन्य शरीर के बाहर एक ही स्थान में स्थित हुई उन दो उपाधियों से युक्त हुआ है अतः उनके भेद की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित उपाधियाँ ही उपाधेयों में भेदप्रतीति करा सकती हैं घट के प्रत्यक्ष ज्ञान के समय घट देश के साथ अन्तःकरण का संयोग होता है। अन्तःकरण के एक भाग को ही वृत्ति कहते हैं। इस कारण 'घटावच्छिन्न-चैतन्य और घट को अभिव्यक्त करने वाला चैतन्य दोनों एक ही हैं।'

इस तरह यहाँ हमने वेदान्त दर्शन की अन्तःकरण की संकल्पना से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं जैसे इसकी उत्पत्ति, इसके स्वरूप एवं गतिविधियों की चर्चा की है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मन या अन्तःकरण शरीर से भिन्न है। यह शरीर एवं आत्मा के मध्य की मध्यस्थ स्थिति में रहता है। इसका अन्तर्भाव न तो शरीर में ही और न ही आत्मा में ही किया जा सकता है। मन एक प्रकार का जड़ पदार्थ है किन्तु बहुत ही सूक्ष्म जड़ पदार्थ है। मन एवं शरीर दोनों भौतिक स्वरूप के हैं और वे दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यद्यपि मन जड़ात्मक प्रकृति वाला है किन्तु यह आत्म- चैतन्य को प्रतिबिंबित कर सकता है। चूँकि वास्तविक आत्मा का ही मूल स्वभाव चेतना है इसलिए चेतना आत्मा से मन में होकर इंद्रियों में पहुँचती है। वेदांती मन या अन्तःकरण को एक इंद्रिय नहीं मानते क्योंकि केवल प्रत्यक्ष तक ही इसकी भूमिका सीमित नहीं है। मन केवल संवेदनाओं को ग्रहण ही नहीं करता बल्कि उस पर प्रतिक्रिया भी करता है मन के अस्तित्त्व के प्रमाण के सम्बन्ध में अद्वैतवादी इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति को स्वीकार करते हैं आत्मा को इसका साक्षात् ज्ञान होता है। जड़ पदार्थ होने के कारण अन्तःकरण की अविद्या से उत्पत्ति होती है और पंचीकरण की प्रक्रिया के द्वारा इसकी संघटना के क्रम की व्याख्या की गई है। अन्तःकरण के चार भिन्न पहलु या कार्य हैं। ये संशय, निश्चय, अहंता और स्मृति हैं मन की प्रकृति के सम्बन्ध में वेदांतियों का मत है कि यह मध्यम परिमाणी सावयवी द्रव्य है। प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की भूमिका के सम्बन्ध में वेदांती इसके विषय तक बाहर जाकर विषयाकार होने तथा इस विषय वृत्ति के आत्मा की ज्योति से प्रकाशित होना आवश्यक मानते हैं। इसप्रकार यह अद्वैत वेदान्त दर्शन में मनस् तत्त्व (अन्तःकरण) की अवधारणा का संक्षिप्त विवेचन है।

संदर्भ

1. विद्याभूषण, सतीशचंद्र (1913) *द न्याय सूत्रास ऑफ गोतम*, भुवनेश्वरी आश्रम प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 89.
2. चटर्जी, सतीशचन्द्र (1913)
3. माधवानंद, स्वामी (1950) आश्रम, कलकत्ता, पृ. 213-214.
4. वीरेश्वरानंद, स्वामी (2019)
5. चटर्जी, सतीशचन्द्र (2015) *न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज*, रूपा पब्लिकेशन्स्, नई दिल्ली पृ. 160.
   द बृहदारण्यक उपनिषद विथ द कॉम्मेन्टरी ऑफ शंकराचार्य, (अनु.) *अद्वैत ब्रह्मसूत्रास ऐकार्डिंग टू श्री शंकर*, (अनु.) अद्वैत आश्रम, कोलकाता, पृ. 232. *न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज*, रूपा पब्लिकेशन्स्, नई दिल्ली पृ. 160.
6. दत्त, डी. एम. (2017) *द सिक्स वेज़ ऑफ नोइंग*, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ. 46.
7. गंभीरानंद, स्वामी (1977) *एट उपनिषद्स विथ द कॉम्मेटरी ऑफ श्री शंकराचार्य*, (अनु.) अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, पृ. 159.
8. पूर्वोक्त, पृ. 155.
9. वीरेश्वरानंद, पूर्वोक्त, पृ. 258.
10. दत्त, पूर्वोक्त, पृ. 47.
11. शास्त्री, केशवलाल (2009): *वेदान्त-परिभाषा* (अनु.) चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली पृ. 16-17.
12. पूर्वोक्त, पृ. 51.
13. *सांख्यकारिका*, 27.
14. *तर्कसंग्रह*, 2.9
15. दत्त, पूर्वोक्त, पृ. 42.
16. *पंचदशी*, 1.20
17. सत्प्रकाशानंद, स्वामी (1995) *मेथड्स ऑफ नॉलेज*, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, पृ. 51.
18. माधवानंद, पूर्वोक्त, पृ. 32.
19. दत्त, पूर्वोक्त, पृ. 42.
20. *पंचदशी* 1.20
21. दत्त, पूर्वोक्त, पृ. 55.
22. पूर्वोक्त, पू. 65.
23. पूर्वोक्त, पृ. 66.

सहायक प्राध्यापक, भारतीय दर्शन विभाग,
सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला साँची
बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय,
पो. साँची, (रायसेन), म.प्र.-464661
ईमेल: navindixit16@gmail.com, मोबाइल नं. 9826477609

सात्त्वतसंहिता में ब्रह्मविमर्श

अंकित शर्मा

पाञ्चरात्रागम निर्विवाद रूप से एक प्राचीन आगमिक परम्परा है। पाञ्चरात्र साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है। मद्रास से प्रकाशित *पेनरोमा आफ पाञ्चरात्र* से प्रायः तीन सौ संहिताओं का नामोल्लेख मिलता है। डॉ. एच. डेनियलस्मिथ ने *'ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओग्राफी ऑफ दी पाञ्चरात्रागम'* में पाञ्चरात्रग्रन्थों का सप्रमाण निरूपण किया है।[1] एकायनवेद से समुद्भूत पाञ्चरात्र साहित्य में *रत्नत्रय* के नाम से प्रख्यात सात्वत्, पौष्कर तथा जयाख्यासंहिताओं का विशिष्ट स्थान है।[2] सात्त्वतसंहिता का उपदेश साक्षात् भगवान् वासुदेव ने संकर्षण को दिया था। इसका समर्थन महाभारत के भीष्मपर्व में उपलब्ध है—

सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः।
द्वापरस्य युगस्यान्त आदौ कृतयुगस्य च।।[3]

पाञ्चरात्रागम एक दार्शनिक प्रस्थान है। इसमें तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी तथ्यों पर विचार करते समय यह ध्यातव्य है कि इस सम्प्रदाय का परमतत्त्व वेदोपनिषद् प्रतिपाद्य 'ब्रह्म' ही है। ब्रह्म शब्द 'बृंह' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है व्यापक होना, बढ़ना आदि। *सात्वतसंहिता* में परब्रह्म वासुदेव को सर्वत्र व्याप्त, परमज्योति, अमूर्त्त एवं निर्मल स्वरूप निर्दिष्ट है।[4] यह सततोदित तेज[5] ही भूतावास[6] परब्रह्म नारायण से भी बोधित होता है।[7]

उस परब्रह्म के विषय में वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

ततस्तस्मात्तु वै धाम्नो युगपन्निस्सृतं स्मरेत्।
महत्स्फुलिङ्गसंकाशं महस्तु सततोदितम्।।[8]

उस परब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त, परमज्योति, अमूर्त एवं निर्मल स्वरूपों से युक्त बताया गया है। यह सततोदित तेज ही भूतावास परब्रह्म नारायण पद से भी बोधित होता है। पुनरपि ब्रह्म को चिदानन्दघन स्वरूप सम्पन्न बताया गया है—

प्रलीनमूर्तिरमलो ह्यनन्तस्तेजसां निधिः।
चिदानन्दघनः शान्तो ह्यनौपम्यो ह्यनाकुलः।।[9]

चैतन्यशक्ति से सम्पन्न ब्रह्म को वासुदेव नाम से भी जाना जाता है। वह परब्रह्म चिदानन्दघन, शान्त, अमल, अनन्त तेज सम्पन्न तथा सभी प्राणियों के अन्दर लीन रहने वाला भी है। जैसा कि उपनिषद् में सत्, चित्, आनन्द रूप ब्रह्म को स्वीकार किया जाता है। उसी तरह इस संहिता में भी उसी त्रिविधात्मक स्वरूप सम्पन्न परब्रह्म को स्वीकार किया गया है। इस सात्त्वतसंहिता में उस ब्रह्म की द्विविध दशा का वर्णन किया गया है। इसमें पहली सततोदिता (नित्योदिता) तथा दूसरी शान्तोदिता के नाम से जानी जाती है। इसी को पर तथा व्यूह के नाम से भी जाना जाता है। इसमें सततोदिता (नित्योदिता) दशा से युक्त (पर) वासुदेव और शान्तोदिता दशा से युक्त (व्यूह) वासुदेव में प्रबुद्ध रूप से रहते हैं।[10] शान्तोदित व्यूह वासुदेव में प्रबुद्धरूप में विद्यमान छः गुणों में से क्रमशः प्रथम दो गुणों से संकर्षण की, द्वितीय दो गुणों से प्रद्युम्न की तथा अन्तिम दो गुणों में से क्रमशः प्रथम दो अनिरुद्ध की प्रवृत्ति होती है।[11] अन्य चार गुण प्रत्येक में प्रसुप्त रहते है। इस तरह परब्रह्म के नाम से चार स्वरूपों की अभिव्यक्ति होती है। इसी तरह *तत्त्वप्रकाश ग्रन्थ* के मंगलाचरण में भी भोजदेव ने शिव को सततोदित, शान्त आदि विशेषणों, से सुशोभित किया गया है। टीकाकार ने सततोदित का अर्थ "उदय और अस्त से रहित प्रकाश वाला" इस प्रकार किया है। नित्योदित शब्द से भी इसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ ब्रह्म का पर स्वरूप उदय और अस्त से रहित है और व्यूह स्वरूप (पर) स्वरूप से अभिव्यक्त होता है और उसी में लीन हो जाता है। इसीलिए यह शान्तोदित नाम से जाना जाता है। जीवों के सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के लिए वासुदेव आदि चार व्यूहों के प्रत्येक देवता तीन-तीन रूपों का धारण करते हैं। चतुर्व्यूह की तुलना ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश में "एता एवौताऽनुज्ञाताऽनुज्ञा-विकल्पाख्याः स्थूल-सूक्ष्म-जीव, साक्षी, भूता-भूता अकारोकारमकारौङ्कारवाच्या अनिरुद्ध-प्रद्युम्न- सङ्कर्षण-वासुदेवरूपेण पर्यवस्यन्ति चतस्रोऽवस्थाः" इस तरह निर्दिष्ट है।[12] वासुदेव- केशव, नारायण और माधव विभव रूप में का, संकर्षण- गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन का, प्रद्युम्न-त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर का तथा अनिरुद्ध-हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर का स्वरूप धारण कर वह ब्रह्म बारह व्यूहान्तर देवता के रूप में विख्यात हैं।[13] सात्वतसंहिता में मूर्त्यन्तर के नाम से व्यूहान्तर की ही चर्चा है—

आ चैकमूर्तेः सर्वासां मूर्तीनां तु महामते।
तथा मूर्त्यन्तराणां च प्रादुर्भावगणस्य च।।[14]

विष्णु की केशव आदि बारह मूर्तियों की नामावली और इनकी पूजा का विधान *प्रपञ्चसार* नामक ग्रन्थ में मिलता है।[15] व्यूहान्तर के नाम से प्रसिद्ध भगवदभिव्यक्ति के इन स्वरूपों की आराधना करने वाला सुप्रबुद्ध साधक दान, धर्म, व्रत आदि का आचरण करता हुआ इस संसाररूपी दावानल से शीघ्र छुटकारा पाकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म के विभव नामक तीसरे स्वरूप का वर्णन सात्त्वतसंहिता के अन्तर्यागविधि प्रकरण में किया गया है।[16] यहाँ बताया गया है कि—स्थूल, सूक्ष्म और पर के भेद से विभवावतार के तीन भेद है। अपनी इच्छा के अनुसार स्वरूप धारण करने वाले भगवान् कार्य के आरम्भ, मध्य और अन्त में सृष्टि, स्थिति और संहार के समय अकेले ही अनेक स्वरूप धारण करते है। सृष्टि के समय

रक्त, रक्षा के समय शुक्ल और संहार के समय वह कृष्णवर्ण के बन जाते हैं। विभवावतार का यह स्थूल रूप है। समाधि के अभ्यास में लगे योगियों को सन्मार्ग की प्रेरणा देने के लिए सूक्ष्म रूप है। विभव का तेजोमय रूप परात्मक माना जाता है। इसी कड़ी में भगवान् विशाखयूप स्वयं विश्व की सृष्टि करने की इच्छा से आद्यपद में स्थित चातुरात्म्य के तुर्यव्यूह की शुद्ध संविन्मय महिमा के सहारे व्यूह और विभवावतार की सृष्टि के सारे साधनों का संग्रह करते हैं।[17] उस समय वासुदेव आदि चतुर्व्यूह के स्वरूप को संवृत कर वैभवीय स्वरूप के उसी तरह स्वामी बन बैठते हैं, जैसे सूर्य की किरणों से प्रज्ज्वलित हुई अग्नि विना उसकी सहायता के समस्त वस्तुओं को प्रकाशित कर देती है। भगवान् विशाखयूप की संभूति, स्थिति, संहार, योग और कैवल्य लक्षण पाँच अर (तीलियाँ) वाले इस संसार चक्र को अपनी बुद्धि से प्रेरित करते रहते हैं। इन्हीं से पद्मनाभ आदि अड़तीस विभवावतारों का आविर्भाव होता है। इन विभव देवताओं की आराधना द्वितीय परिच्छेद में वर्णित वर्ण चक्र की पद्धति से आविष्कृत बीजाक्षरों से तथा नवम परिच्छेद से वर्णित इनके शब्दब्रह्ममय स्वरूप से की जाती है। इन बीजाक्षरों से सर्वेश्वर विशाखयूप एवं पद्मनाभ आदि विभवावतारों का बोध होता है। अन्तर्याग की पद्धति से इनकी आराधना इन बीजमंत्रों के माध्यम से ही की जाती है। सात्वतसंहिता में नर और नारायण को भी विभवावतारों में वर्णित किया है–

देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी त्रिविक्रमः।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव।।[18]

नर, नारायण, हरि और वामनदेहधारी भगवान् श्रीकृष्ण भी विभवावतारों में वर्णित हैं। इस प्रसंग में भाष्यकार कहते हैं—पारिजातहर शब्द से श्रीकृष्ण का बोध होता है। अतः विभवावतारों में श्रीकृष्ण की चर्चा नहीं हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत स्थल पर जिस श्रीकृष्ण की चर्चा नहीं हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत स्थल पर जिस श्रीकृष्ण की चर्चा है, वे वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण नहीं हैं, किन्तु वे धर्म के पुत्र हैं। पौष्करसंहिता में इनका विवरण मिलता है। यहाँ केवल श्रीकृष्ण का ही उल्लेख है, अतः इससे वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण के ग्रहण करने में क्या बाधा हो सकती है? इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि—एक तो यहाँ साहचर्य का विरोध होगा। परन्तु महाभारत के निम्नवचनों से इसकी पुष्टि होती है। जैसे—"नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः", एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा धर्मस्य कुलसन्ताने.....।। नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा"।। यहाँ पर इन चारों स्वरूपों की चर्चा धर्म की कुल सन्तति के रूप में हुई है। इन चारों स्वरूपों का ध्यान सात्त्वतसंहिता में वर्णित है–

गोपनीं दक्षहस्तेषु तत्संख्येषु च संस्मरेत्।
जगत्सूत्रं सहाक्षैस्तु येनोक्तममितात्मनाम्।।
कृष्णाजिनोत्तरीयाश्च सर्वे काषायधारिणः।
ब्रह्मलिङ्गधराः सर्वे सर्वे ब्रह्मपरायणाः।।

मुख्यकर्मपरिक्रान्ताः साधूनां प्रेरणाय च।
कालानुकालमाश्रित्य सर्वे सर्वपरायणाः।।[19]

यहाँ पर पूर्वोक्त चारों ब्रह्म के विभावावतारों को यथाक्रम से जप, योग, क्रिया और तप का रक्षक माना गया है। आगे चलकर ब्रह्म को ही शब्दब्रह्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है। बारहवें परिच्छेद में विभवावतार के अन्तर्गत वेदव्यास के ध्यान के प्रसंग में शब्दब्रह्म का स्वरूप बताया गया है—

वाग्वेदमण्डलं यो वै स्वरूपद्युतिलक्षणम्।
स्वयं स्वोत्थं विभजति त्रिधा पश्यन्तिपूर्वकम्।।
बोधमारुतहृत्पूर्वस्थानेष्वभ्युदितं क्रमात्।
स्मर्तव्यः सोऽपि भगवान्तसीकुसुमद्युतिः।।[20]

पूर्वोक्त कथनानुसार हृदय में अवस्थित यह ज्योतिः स्वरूप शब्दब्रह्म केवल शान्तस्वरूप में अवस्थित है। यह वाग्वेदमण्डल अर्थात् शब्दब्रह्म पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में अपने को त्रिधाविभक्त करता है। आचार्य शीतलाप्रसादपाण्डेय द्वारा विरचित 'पाञ्चरात्र आगमतन्त्र' में चतुर्व्यूह का स्वरूप निम्नवत् निर्दिष्ट है[21]—

वासुदेवेन सह चतुर्व्यूह, श्वेतवर्ण

क्रमांक	नाम	वा.मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
1.	वासुदेव	शंख	अभय	गदा	चक्र
2.	केशव	गदा	पद्म	चक्र	शंख
3.	नारायण	गदा	पद्म	शंख	चक्र
4.	माधव	शंख	गदा	पद्म	चक्र

सङ्कर्षणेन सह चतुर्व्यूह, रक्तवर्ण

क्रमांक	नाम	वा.मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
1.	संकर्षण	शंख	अभय	मुसल	सीर
2.	गोविन्द	पद्म	गदा	चक्र	शंख
3.	विष्णु	शंख	पद्म	चक्र	गदा
4.	मधुसूदन	पद्म	शंख	गदा	चक्र

प्रद्युम्नेन सह चतुर्व्यूह, पीतवर्ण

क्रमांक	नाम	वा.मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
1.	प्रद्युम्न	शंख	अभय	शार्ङ्ग	बाणपंचक
2.	त्रिविक्रम	चक्र	गदा	पद्म	पद्म
3.	वामन	गदा	चक्र	पद्म	शंख
4.	श्रीधर	गदा	चक्र	शंख	पद्म

अनिरुद्धेन सह चतुर्व्यूह, कृष्णवर्ण

क्रमांक	नाम	वा.मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
1.	अनिरुद्ध	शंख	अभय	खेटक	खड्ग
2.	पद्मनाभ	पद्म	चक्र	शंख	गदा
3.	हृषीकेश	चक्र	पद्म	गदा	शंख
4.	दामोदर	गदा	शंख	चक्र	पद्म

उपर्युक्त विवेचन का सारतत्त्व सात्वसंहिता के ही शब्दों में—अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्।[22] कश्मीरशैवदर्शन के आचार्य क्षेमराज ने भी पराप्रवेशिका में कहा है—

यथान्यग्रोधबीजस्थं शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।।[23]

सन्दर्भ

1. *सात्त्वतसंहिता*, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा, भाग-1-2, 1975-1980.
2. सात्त्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं तन्त्रमुत्तमम्। रत्नत्रयमिति ख्यातं तद्विशेष इहोच्यते।।
   जयाख्यसंहिता, पटल 1, अधिकता पाठ-2
3. *भीष्मपर्व* 66/40.
4. सर्वगं परमं ज्योतिरमूर्तममलं हि यत्।।
   स एव वासुदेवेति मत्वा सम्यग् यजेत् ततः।। *सात्वतसंहिता* 8/52-53.
5. *सात्वतसंहिता*- 8/56
6. तत्रैव- 8/151
7. नारायणः परंब्रह्म प्रतिशब्दत्वमागतः।। *सात्वतसंहिता*-17/419.
8. *सात्वतसंहिता*- 8/56
9. *सात्वतसंहिता*- 6/212

10. (क). तत्रैव 4/32 पर *अलशिङ्गभाष्य*।
    (ख). *पारमेश्वर संहिता*- 19/524-527.
11. *अनिरुद्धसंहिता*- 5/17-24
12. ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाशः, श्रीमधुसूदन सरस्वती, पृष्ठ-23
13. (क)- *अहिर्बुध्न्यसंहिता* 5/46
    (ख)- *पाद्मसंहिता*, ज्ञानपाद-2/21-25
14. *सात्वतसंहिता*-25/322
15. *प्रपञ्चसार*, पटल-21
16. *सात्वतसंहिता*- 9वाँ परिच्छेद
17. विशाखयूप एवैष जाग्रदाख्ये पदे स्थितः।
    विहाय वासुदेवाद्यं मूर्तिशाखाचतुष्टम्।। — *संकर्षणसंहिता*, ज्ञानरात्रे, 4/9
18. *सात्वतसंहिता*- 9/82
19. *सात्वतसंहिता*- 12/136, 147, 148
20. *सात्वतसंहिता*-12/153-154.
21. *शिवांक प्रकाशन*, नई दिल्ली-2016 पृ. 100
22. *सात्वतसंहिता*- 5/81
23. *पराप्रवेशिका*

अनुसन्धाता
धर्मागम-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

वासुदेव उपनिषद् में प्रतिभासित आध्यात्मिक तत्त्व

डॉ. शुभ्रजित् सेन
डॉ. विजयघोष

वासुदेव उपनिषद् संस्कृत में लिखे गए 108 मूल उपनिषदों में से एक है। यह उपनिषद् वैष्णव संस्कृति से संबंधित है, जो विष्णु और उनके अवतार कृष्ण के उपासक हैं। यह मध्यकालीन गौण उपनिषद् सामवेद से सम्पृक्त है। यह वासुदेव उपनिषद् वैष्णव धर्म और दर्शन को समर्पित 14 उपनिषदों में सबसे लोकप्रिय है। नारद ऋषि को श्रीकृष्ण की सलाह यहाँ दर्ज है। इस उपनिषद् की रचना कब हुई यह अभी भी विवादित और अज्ञात है। हालांकि, यह माना जाता है कि यह एक अर्वाचीन उपनिषद् (काल अनुमित 2nd Millennium CE) है। वासुदेव शब्द का प्रयोग जो न तो वैदिक साहित्य की संहिता खण्ड में पाया जाता है और न ही प्रधान उपनिषद् में। अतः पाश्चात्त्य विद्वान मैक्समूलर के अनुसार, यह पुस्तक अपेक्षाकृत आधुनिक पाठ है।[1]

ऋषि नारद वासुदेव के पुत्र यानी वासुदेव या भगवान् कृष्ण के पास गए और ऊपरी पुंडरों और वैष्णवों की तिलकधारण पद्धति के बारे में पूछताछ की। यह उपनिषद् ऊद्ध्वस्थ तीन चरणों का निर्देश करते हैं।[2]

विष्णु-कृष्ण की तुलना ब्राह्मण से की जाती है, जो अद्वैत और अनंत है, जिसका कोई आदि, मध्य या अंत नहीं है। उनके रूप को सच्चिदानंद—'सत्, चित्, आनंद' कहा जाता है। इसकी अविनाशीता केवल भक्ति से ही समझ में आती है।[3] उसकी अजेयता तथा अदम्यता को भक्ति से ही समझा जा सकता है।

कृष्ण के चन्दन को 'गोपीचंदन' और 'विष्णुचंदन' के नाम से जाना जाता है। यह चंदन एक प्रकार की मिट्टी होती है और ऊर्ध्वपुण्ड्र का प्रतीक और प्रयोग बताया गया है। यह चंदन वैकुण्ठ या विष्णु के निवास से उत्पन्न होता है। गोपियों और कृष्ण के भक्तों ने दूध से कृष्ण के शरीर से इस मिट्टी के लेप को हटाया। इसलिए मार्जन लिखा गया था और गोपीचंदन के नाम से जाना जाता है।[4] पीले रंग की यह वस्तु भक्तों के लिए मुक्ति का मार्ग मानी जाती है। पञ्चदश शताब्दी में विद्यानाथ दीक्षित ने *'स्मृतिमुक्तफला'* नामक अपनी कृति में ऊर्ध्व पुण्ड्र में गोपीचन्दन के उपयोग के बारे में *वासुदेवोपनिषद्* से जानकारी उद्धृत करते हैं।[5]

कृष्ण एक ब्रह्मचारी और एक गृहस्थ को उत्तर दे रहे हैं कि वासुदेव उपनिषद् का मन्त्र पढ़कर माथे पर तिलक लगाना चाहिए। अच्युत और गोविन्द की स्तुति में यह मन्त्र विष्णु और कृष्ण को समर्पित है। यह ग्रन्थ विष्णु-गायत्री-मन्त्र या विष्णु के बारह[6] नाम का जाप करने के बाद ऊपरी शरीर के अलावा बारह शरीर

के अंगों पर तिलक लगाने की सलाह देता है। संन्यासी को 'ॐ' की ध्वनि का उच्चारण करते हुए मस्तक और अंगुलियों पर तिलक लगाकर अभिषेक करना चाहिए।

भगवान् नारद ने आदरपूर्वक सर्वेश्वर वासुदेव से ऊर्ध्वपुण्ड्र के नियमों के साथ-साथ द्रव, मंत्र और स्थानों के बारे में पूछा। वासुदेव ने उन्हें उत्तर दिया, वैकुण्ठस्थान से विष्णु चंदन का उत्पादन होता है। यह उन्हें अत्यन्त प्रिय है। ब्रह्मादि भक्तगण इसे धारण करते हैं। गोपरमणियाँ इसे वासुदेव के शरीर पर लगाती थीं और धोती थीं। इसलिए यह विश्व में गोपीचंदन के नाम से प्रसिद्ध है। यह उनका पवित्र अभिषेक है। यह चंदन चक्रतीर्थ में चक्र के निशान और पीले रंग के साथ स्थित है और मुक्ति की साधना है। अर्थात् इसे श्रद्धापूर्वक धारण करने से मन की पवित्रता और भक्ति उत्पन्न होती है और इससे ज्ञान प्राप्त कर साधक मुक्ति को प्राप्त होता है। विधि शास्त्र में ऐसी गोपीचंदन अवधारणाओं का उल्लेख है।

सबसे पहले प्रणाम करने के बाद 'गोपीचंदन...' जैसे मंत्रों का जप करके गोपीचंदन को उभारा जाएगा। मंत्र का अर्थ है—'हे गोपीचंदन, हे पापघ्न, हे विष्णुदेह-समुद्भव, हे चक्र-चिह्नित हो मेरे मुक्तिदाता'। "इमं मे गङ्गे" आदि मन्त्र के साथ जल लें और इसे "विष्णोर्नमः" मंत्र से फेंटें। तत्पश्चात् "देवा अवन्तु नः" आदि मन्त्र से विष्णु गायत्री अथवा केशवादि नाम जप द्वारा उसे धारण करेंगे। एक ब्रह्मचारी या धनुष धारण करने वाला वैष्णव गायत्री या कृष्ण के नाम का जप करके माथे, हृदय, वाणी और भुजाओं को धारण करेगा। गृहस्थ को वैष्णव गायत्री या केशवादि के नाम का तीन बार जप करने के बाद माथे के साथ के बारह स्थान आदि पर अनामिका से जप करना चाहिए। यति मस्तक पर तर्जनी अंगुली से और प्रणव माथे की जड़ पर तिलक लगाएं। अब तीन रेखा को विचार रूप कहा जाता है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र देवमूर्ती त्रय हैं, भूः, भुवः, स्वः-व्याहृतित्रय हैं, ऋक्, यजुस् और साम वेदत्रय, गार्हपत्य, आह्वनीय, दाक्षिणाग्नि - अग्नित्रय, चंद्र, सूर्य और अग्निरूप ज्योतिष्मान् पदार्थत्रय, भूत, भविष्य, वर्तमान रूप कालत्रय, बाल्य, यौवन और पुरानी अवस्था में, गौण आत्मा, मिथ्या आत्मा और परम आत्मा, या परम आत्मा, अंतरात्मा और परम आत्मा, और इसी तरह, सर्वोच्च आत्मा के बारे में सोचेंगे।[7] इसकी तीन आकृतियों को आकार देकर भी एकरूपता प्राप्त की गई है। जो संत आत्मा को हृदय कमल से सुषुम्नामार्ग तक ले जाने में सक्षम है, वही ओंकारात्मा प्रणवरूप को धारण करता है। इस कारण आत्मा को ब्रह्मरंध्र के ऊपर प्रस्तुत करने के लिए ऊपरी शरीर धारण किया जाएगा। परमहंस संन्यासी प्रणव का जप करेंगे और तिलक या ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करेंगे। स्वयंप्रकाश परमात्मा से साथे अभिन्न जीवात्मा का मिलन मुक्ति की ओर ले जाता है। हृदय में आत्मसाक्षात्कार से भी हमें मुक्ति—ब्रह्मसायुज्य प्राप्ति की ओर ले जाती है।

उस हृदयपुण्डरीक के भीतर एक सूक्ष्म और ऊपर की ओर गति करने वाली ज्वाला रूपी आत्मा है। यह नीले बादलों के बीच बिजली की तरह चमकता है, यह निबार के दाने की महीन लौ की तरह सूक्ष्म रूप से मौजूद है। इसलिए, उस आत्म-प्रतिबिम्ब को बौद्धिक स्थान में हृदय में एक कांटा की तरह अभ्यास करें। इस क्रम में परमात्मा के हरिरूपी, जीवात्मा के समान, परम ब्रह्म के बारे में सोचेंगे।

जो हृदयपंकज के जीवात्मा के समान अविनाशी हरि का एकचित्त (एकाग्र) होकर ध्यान करता है, वह संदेह से मुक्त हो जाता है। अद्वितीय परब्रह्म मेरा रूप है, मेरा कोई आदि, मध्य या अंत नहीं है, मैं स्वयं प्रकट हूं, मेरा कोई रूप और परिणाम नहीं है, मैं अस्तित्व, ज्ञान और आनंद का रूप हूं। इस प्रकार जो मुझे जानता है वह मुक्ति को प्राप्त करता है। एक विष्णु अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा अनेक स्थावर जङ्गम वस्तुओं में समाहित है। मैं प्राणियों के बीच भी तदनुसार तैनात हूं। जैसे तिल में तैल, लकड़ी में आग, दूध में घी, फूलों में सुगंध, वासुदेव दूसरे रूप में स्थित हैं।[8] इस प्रकार मैं सभी प्राणियों में हूँ। ब्रह्मरंध्र में, भौंहों के बीच, हृदय में, चैतन्य-सूर्यस्वरूप हरि को प्रस्तुत किया जाता है और गोपीचंदन द्वारा उनका ध्यान किया जाता है और परमात्मा को प्राप्त होता है। ऐसा निश्चित ज्ञान, संदेह और भ्रम से मुक्त, मेरी भक्ति से स्वयं पूर्ण है। गोपीचंदन को धारण करने के लिए वेदज्ञ ब्राह्मणों में भक्ति की उच्चतम नित्य एकाग्रता है। ऊर्ध्वपुण्ड्र गोपीचंदन और जल से पूर्ण होता है। जो मुमुक्षु व्यक्ति गोपीचंदन के अभाव में नियमित रूप से तुलसी मूल की मिट्टी को धारण करता है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करता है।[9] अतिरात्र और अग्निहोत्र यज्ञ की भस्म को "अग्ने भसितम्", "इदं विष्णु" आदि मंत्रोच्चारण के साथ लेपन किया जाएगा। गोपीचंदन भी इस नियम में शामिल होंगे। जो इसका अध्ययन करता है वह सब पत्तों से पवित्र हो जाता है। उसे पाप का बोध नहीं है। उसे समस्त तीर्थों का फल प्राप्त होता है। उसे समस्त यज्ञों का फल प्राप्त होता है। वे देवों द्वारा पूजे जाते थे और श्री नारायणरूप मे के प्रति उनकी निरंतर भक्ति थी। उन्होंने उचित ज्ञान प्राप्त किया और विष्णु की सहायता प्राप्त की। वह फिर संसार में नहीं सुनाया जाता। जैसा ब्रह्म सत्य है, वैसा ही रहस्यवाद भी है।

वासुदेव उपनिषद् के बाद के श्लोकों में वासुदेव के ध्यान को योग के एक रूप के रूप में वर्णित किया गया है। योगिनी, पाठ पर जोर देती है, उसे अपने अंतरतम आत्म, आत्मा को वासुदेव के रूप में देखना चाहिए। ध्यान का यह लक्ष्य, और पूजा की पद्धति, पंचरात्र आगमों, पुराणों और वैष्णववाद परंपरा के अन्य ग्रंथों में पाई जाती है। ये ग्रंथ, श्रीनिवासचारी कहते हैं, कि सत् (सत्य), आत्मन् और ब्राह्मण की उपनिषद् अवधारणा परम वास्तविकता के वेदांतिक तत्त्वमीमांसा को दर्शाती है, और तीनों को वासुदेव का पर्यायवाची घोषित करती है। वासुदेव शब्द स्वयं विष्णु और वासुदेव का पर्याय है।

ऊर्ध्वपुण्ड्र के तीन चरण हिंदू धर्म की त्रिमूर्ति हैं, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव, तीन वैदिक शास्त्र (ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद), तीन उच्च संसार (भु, भूव, स्वः), 'ओम्' शब्द की त्रिमूर्ति- अ,उ और म, अस्तित्व की त्रिमूर्ति - अवस्थाओं (जागने, सोने और सपने देखने) और तीन शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म और करण) से जुड़ी है। हमें शरीर के उपरी भाग को 'ओम्' के प्रतीक के रूप में धारण करना चाहिए। इस उपनिषद् में घोषणा की गई है कि एक संन्यासी को उपर की चार वस्तुओं - दण्ड, वीरता, योग और ऊर्ध्व तिलक या पुण्ड्र को धारण करना चाहिए।

तथ्य सूत्रों

1. Max Muller, *The Upanisads*, Part: 1, P-52
2. K.V.Gajendragadkar (1959). *Neo-upanishadic Philosophy*, P.-22
3. *वेदान्त-सूत्र*, अध्याय 1
4. Sunder, Hattangadi (2000), '*वासुदेवोपनिषत्*' (http://sasnkritdocuments.org/doc_ upanishhat/ vasudeva.pdf)
5. P.V.Kane, *History of Dharmasastra*, p-673
6. केशव, नारायण, माधव, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषिकेश, पद्मनाभ, दामोदर—ये विष्णु के बारह नाम हैं।
7. ब्रह्मादयस्त्रयो मूर्तयस्तिस्रो व्याहृतयस्त्रीणि छन्दांसि। त्रयोऽग्नय इति ज्योतिष्मन्तस्त्रयः कालास्तिस्रोऽवस्थास्त्रयः।।
   आत्मनः पुण्ड्रास्त्रय ऊर्ध्वा अकार उकारो मकार एते। प्रणवमयोर्ध्वपुण्ड्रास्तदात्मा सदेतदोमिति। (*वासुदेवोपनिषत्, पृ. 406*)
8. एको विष्णुरनेकेषु जङ्गमस्थावरेषु च। अनुस्यूतो वसत्यात्मा भूतेष्वहमवस्थितः।।
   तैलं तिलेषु काष्ठेषु वह्निः क्षीरे घृतं यथा। गन्धः पुष्पेषु भूतेषु तथात्मावस्थितो ह्यहम्।। (वासुदेवस्य सर्वात्मत्वम्, *वासुदेवोपनिषत्*, पृ. 406)
9. यो गोपीचन्दनाभावे तुलसीमूलमृत्तिकाम्। मुमुक्षुर्धारयेन्नित्यमपरोक्षात्मसिद्धये।
   अतिरात्राग्निहोत्रभस्मनाग्नेर्भसितमिदं विष्णुस्त्रीणि पदेति मन्त्रैर्वैष्णवगायत्र्या प्रणवेनोद्धूलनं कुर्यात्।। (*वासुदेवोपनिषत्, पृ. 406*)

सन्दर्भ ग्रन्थ

जैकब, जॉर्ज (1887)। *वासुदेव और गोपीचंदन उपनिषद्*। द इंडियन एंटीक्वेरी, ए जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च। XVI (मार्च, भाग CXCIV)।

जैकब, जॉर्ज (1891)। *दीपिका के साथ ग्यारह अथर्वन उपनिषद्*। गवर्नमेंट बुक डिपो, बॉम्बे (संग्रहीत: हार्वर्ड कॉलेज लाइब्रेरी)।

हट्टंगडी, सुंदर (2000)। *वासुदेवोपनिषद* (वासुदेव उपनिषद्) (पीडीएफ) (संस्कृत में)।

शास्त्री, जगदीश (1998)। *उपनिषद् संग्रह*। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (प्रथम संस्करण, पञ्चम मुद्रण)।

Manohar, Mrinalini V.(2011). *The Earlier and Later Upaniṣads*. Bharatiya Kala Prakashan, Delhi.

Olivelle, Patrick (1998). *Upaniṣads*. Oxford University Press, New York.

1. सहायक अध्यापक, संस्कृत विभाग,
गौडबंग विश्वविद्यालय, मोकदमपुर।
पो. मालदा (पश्चिम बंग) 732104
दूरभाष-8100232021

2. अतिथि अध्यापक (SACT)
(गौड महाविद्यालय, मालदा)

शाक्तागम में कुण्डलिनी योग का स्वरूप

डॉ. योगेश प्रसाद पाण्डेय

कुण्डलिनी योग—शाक्तागम में प्रत्यक्ष रूप से अष्टांग योग का वर्णन प्राप्त न होने पर भी परोक्ष रूप से इस विधि को समर्थन देते हैं। कुण्डलिनी योग की विधि वर्ण प्रसंग में कहते हैं कि यम और नियम के नित्य नियमित आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास में लगा योगी साधक गुरुमुख से मूलाधार से सहस्रार-पर्यन्त कुण्डलिनी के उत्थापन क्रम को ठीक से समझ लेने का उपरान्त पवन और दहन के आक्रमण से प्रतप्त कुण्डलिनी शक्ति को जो कि स्वयम्भू लिंग को वेष्टित कर सार्धत्रिवलयाकार में अवस्थित है, हूँकार बीज का उच्चारण करते हुए जगाता है और स्वयंभू लिंग के छिद्र से निकालकर उसे ब्रह्मद्वार तक पहुँचा देता है। कुण्डलिनी शक्ति पहले मूलाधार स्थित स्वयम्भू लिंग का, तब अनाहत चक्र स्थित बाण लिंग का और अन्त में आज्ञाचक्र स्थित इतर लिंग का भेद करती हुई ब्रह्मनाडी की सहायता से सहस्रदल चक्र में प्रविष्ट होकर परमानन्दमय शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाती है। योगी अपने जीव भाव के साथ इस कुण्डलिनी को मूलाधार से उठाकर सहस्रार चक्र तक ले जाता है और वहाँ उसको परबिन्दु स्थान में स्थित शिव (पर लिंग) के साथ समरस कर देता है। समरस भगवापन्न यह कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में लाक्षा के वर्ण के समान परमामृत का पान कर तृप्त हो जाती है और इस परमानन्द की अनुभूति को मन में संजोये हुए वह पुनश्च मूलाधार चक्र में लौट आती है। यही है कुण्डलिनी योग की इतिकर्तव्यता। इसके सिद्ध हो जाने पर योगी जीवभाव से मुक्त हो जाता है और शिवभावापन्न (जीवन्मुक्त) हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति कैसे सहस्रार स्थित अकुलशिव की ओर उन्मुख होती है और वहाँ शिव के साथ सामरस्य भाव का अनुभव कर पुन: कैसे अपने मूल स्थान में आ जाती हैं।[1] इसी प्रकार चार पीठों (क्षिति, पवन, जल एवं अग्निमण्डल) और चार लिङ्गों (स्वयम्भू, बाण, इतर और परम) का स्वरूप हमें *योगिनीहृदय* में स्पष्ट रूप में मिलता है।[2]

कुण्डलिनी शक्ति—यह मानवलिंग शरीर में सुषुम्नाडी के सहारे 32 पद्मों की स्थिति मानी गयी है। सबसे नीचे और सबसे ऊपर के सहस्रारपद्म स्थित हैं। नीचे कुलकुण्डलिनी में स्थित अरुण वर्ण सहस्रार पद्म ऊर्ध्वमुख तथा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र स्थित श्वेत कर्ण सहस्रारपद्म अधोमुख हैं। इनमें से अध: सहस्रार को कुलकुण्डलिनी और ऊर्ध्व सहस्रार को अकुलकुण्डलिनी कहा जाता है। अकुलकुण्डलिनी प्रकाशात्मक आकार स्वरूपा और कुलकुण्डलिनी विमर्शात्मक हकारस्वरूपिणी मानी जाती है।

इन दो कुण्डलिनियों के अतिरिक्त तंत्र शास्त्र के ग्रन्थों में प्राणकुण्डलिनी का भी वर्णन मिलता है। मूलाधार में जैसे कुण्डलिनी का निवास है, उसी तरह से हृदय में भी 'सार्धत्रिवलया प्राणकुण्डलिनी' रहती है। मध्यनाडी सुषुम्ना के भीतरचिदाकाश (बोधगमन) रूप शून्य का निवास है। उससे प्राणशक्ति निकलती है। इसी को अनच्क कला भी कहते हैं। इसमें अनच्क (अच् = स्वर से रहित) हकार का निरन्तर नदन होता रहता है। यह नाद भट्टारक की उन्मेष दशा है, जिससे कि प्राणकुण्डलिनी की गति ऊर्ध्वोन्मुख होती है, जो श्वास-प्रश्वास, प्राण-अपान को गति प्रदान करती है और जहाँ इनकी एकता का अनुसन्धान किया जा सकता है। मध्य नाडी में स्थित बिना क्रम के स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाली यह प्राणशक्ति ही अनच्क कला कहलाती है। इस अनच्क कला रूप प्राणशक्ति को कुण्डलिनी इसलिए हैं कि मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की तरह इसकी भी आकृति कुटिल होती है। जिस प्राणवायु का अपान अनुवर्तन करता है, उसकी गति हकार की लिखावट की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होती है। प्राणशक्ति अपनी इच्छा से ही प्राण के अनुरूप कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेती है। प्राण शक्ति की यह वक्रता (कुटिलता=घुमावदार आकृति) परमेश्वर की स्वतंत्र इच्छा शक्ति का खेल है। प्राण शक्ति का एक लपेटा वामनाडी इडा में दूसरा लपेटा दक्षिण नाडी पिंगला में रहता है। इस तरह से इसके दो वलय (घेरे) बनते हैं। सुषम्ना नाम की मध्य नाडी सार्ध कहलाती है। इस प्रकार यह प्राणशक्ति भी सार्धत्रिवलया है। वस्तुत: मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में ही प्राणशक्ति का निवास है, किन्तु हृदय में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होने से ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय से उसका यहाँ पृथक् उल्लेख कर दिया गया है। इसका प्रयोजन अजपा (हंस गायत्री) जप को सम्पन्न करना है।

प्रवृद्धवह्निसंयोगमनसा मारुत: सह। ऊर्ध्वं नयेत् कुण्डलिनीं जीवात्मसहितां परम्।।
गच्छन्ति ब्रह्मरन्ध्रेण भित्वा ग्रन्थिं चतुर्दश:। षट्चक्रसन्धिमार्गेण सुषुम्ना वर्त्मना तथा।।
हंसेन मनुना देवीं सहस्रारं समानयेत्। सदाशिवो महादेवो यत्रास्ते परमेश्वरि।
तत्र गत्वा महादेवि कुण्डली परदेवता।।[3]

अर्थात् वायु के साथ महावह्नि के संयोग से वज्र जैसे पर गमन करता है। उसी प्रकार साधक मन के द्वारा पर देवता कुण्डलिनी शक्ति को जीवात्मा के साथ ऊर्ध्व में (ऊपर) सहस्रार पद्म में ले जाता है। ब्रह्मरन्ध्र पथ में (रास्ते में) गमनकारिणी शक्ति को ग्रन्थि (स्वयम्भू, बाण तथा इतराख्य लिङ्गत्रय षट्चक्र तथा पञ्चशिव) भेद करके षट्चक्र सन्धि स्थान स्थित सुषुम्ना पथ में हंस मंत्र के साथ सहस्रार पद्म में आनयन करना। यहाँ महादेव सदाशिव अवस्थान करते हैं। रूपवती परदेवता कुण्डलिनी देवी उसी स्थान में गमन करके कामसमुल्लास विहारिणी होकर मुखपद्म के गन्ध के द्वारा आमोदित (आनन्दित) परम शिव को जगा कर सदाशिव की गोदी में बैठती है। कुण्डलिनी शक्ति शिव के मुखपद्म का चुम्बन करती हैं। उस क्रीड़ा से अमृत उत्पन्न होता है।

साधक उस अमृत के द्वारा परदेवता का तर्पण करेंगे। सुधी साधक वहाँ पर अमृत धारा के द्वारा षट्चक्र देवता का तर्पण करके कुण्डलिनी शक्ति को उस (रास्ते से) पुनरायन मूलाधार में आनयत करेंगे। साधक जाने आने के क्रम से ब्रह्म में मन: स्थिर करेंगे। प्रतिदिन इस प्रकार अभ्यास करने पर जरामरण जनित दु:खादि तथा संसार बन्धन से मुक्ति लाभ करेंगे। यही है योनिमुद्रा बन्धन (जन्म-नाशक) इसे परम योग कहा गया है। वहीं

यामल तंत्र में कहाँ है कि—'कुलवधू जिस प्रकार कुल का परित्याग करके पुन: कुल में आगमन करती है' उसी प्रकार अव्यक्ता कुण्डलिनी (मूलाधार से प्रत्यावर्त्तन करके) एकाकिनी (अकेला) अवस्थान करती है। संकेत पद्धति में कहा गया है- 'कुण्डलिनी शक्ति पिण्ड एवं पद हंस कह कर कीर्तित हुए है'। रूप से समझकर एवं रूपातीत को निष्कल ब्रह्म समझना चाहिए। इस प्रकार षट्चक्र भेद की रीति के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति को सहस्रदल पद्म में लेकर उस सहस्रदल पद्म स्थित सदाशिव के साथ मिलाकर उस मिलन जनित अमृत के द्वारा पर देवता तथा षट्चक्र स्थित शिव शक्ति आदि को आप्लायित करके 'सोऽहं' मन्त्र के द्वारा पुन: स्वस्थान में (मूलाधार) में आनयन करना (लाना) यही है वाक्यार्थ, क्योंकि यामल तन्त्र के द्वारा कुण्डलिनी का आनयन करेंगे।[4]

यहाँ पर शंकर जी सन्देह निवारण करते हुए यह कहते हैं कि-शब्दब्रह्ममय परब्रह्मस्वरूप उस पद्म समूह सुषुम्ना नाड़ी के अभ्यन्तर में अवस्थित है। वे सभी पद्मसमूह सर्वतोमुख है अर्थात् ऊर्ध्वमुख तथा अधोमुख है। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति नामक दोनों भाव जीव के हृदय में अवस्थान करते हैं। प्रवृत्ति मार्ग संसार है और निवृत्ति मार्ग परमात्मा है। प्रवृतिमार्ग के चिन्ता से पद्मसमूह का अधोमुख चिन्तन करना तथा निवृत्ति रूप योग मार्ग में इन पद्म समूह को को सदा-सर्वदा ऊर्ध्व मुख चिन्तन करना है। इस कुण्डलिनी योग का शास्त्रान्तरों में विभिन्न प्रकार से वर्णन प्राप्त है।[5] तन्त्रागमीय साधनायें मुख्यत: शक्ति की ही साधनायें हैं। चाहे वह वैष्णव हो अथवा शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, जैनतन्त्र और बौद्ध तन्त्र क्यों न हो इन सभी में साधनाओं का मुख्य केन्द्र या उनको उत्प्रेरक प्राणसूत्र इन्द्रियातीत दिव्य शक्तियाँ प्राप्त करना ही रहा है। इस विधा में कुण्डलिनी व साधना शक्ति की ही साधना है। कुण्डलिनी अकुल (परमशिव) की निजा शक्ति है, जो कि सर्पाकार होकर पाताल (मूलाधार चक्र) में ब्रह्मरन्ध्र नामक ब्रह्मद्वार को अपने कलाग्र भाग से अवरुद्ध करके अवस्थित है—

भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्ति: कुण्डलिनी नाम विसतन्तुनिभा शुभा।।[6]

कुण्डलिनी की साधना शक्ति-साधनाओं में सर्वोच्च साधना है। परमशिव स्वयं अपनी इसी शक्ति से शक्तिमान् कहलाते हैं, फिर इससे बड़ी शक्ति की अन्य साधना क्या हो सकती? कुण्डलिनी ही सृष्टि है, कुण्डलिनी ही जगत् है, कुण्डलिनी ही जगत् की समस्त शक्तियों का मूलाधिष्ठान है, इससे कुण्डलिनी की साधना ही शक्ति उच्चतम साधना है।

शाक्तागम के *शारदातिलक* में कुण्डलिनी शक्ति और उसका स्वरूप

1. वह चैतन्यरूपा है। 2. सर्वानुस्यूत एवं सर्वगा है। 3. विश्वरूपा है। 4. शिव का सन्निधान प्राप्त करके नित्य आनन्द एवं सत्वादि गुणत्रय को आविर्भूत करने वाली है—

ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी।
शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया।।[7]

5. दिशा-काल से अतीत है। 6. सर्वदेहानुगा है। 7. परापर विभाग से पर शक्ति कहलाती है। 8. योगियों के हृदय में तत्त्वत: नृत्य करती रहती है। समस्त प्राणियों के मूलाधार चक्र में विद्युत की भाँति सदैव स्फुरित होती रहती है। 9. समस्त प्राणियों के मूलाधार चक्र में विद्युत की भाँति सदैव स्फुरित होती रहती है। 10. शंखावर्त के समान सभी को आवृत्त करके अवस्थित है। 11. कुण्डली भूत सर्प के आकार वाली है। 12. सर्वदेवमयी एवं सर्वमन्त्रमयी है। 13. सर्वतत्त्वमयी है। 14. सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर एवं विभु है। 15. त्रिधाम (पृथ्वी-पाताल-स्वर्ग) की जननी है। 16. वह शब्दब्रह्म रूपा है—

सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा। सर्वतत्तमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभु:।
त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी।।[8]

17. 42 वर्णों वाली भूतलिपिमयी है। 18. 50 वर्ण मातृकास्वरूपा है।

'द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी।[9]

19. वह समस्त शरीरों में गुणित (अनेक रूपों में प्रसृत) होकर विद्यमान या व्याप्त है। 20. वह परादेवता है। 21. वह परादेवतास्वरूपा कुण्डलिनी सभी प्रकार से प्रबुद्ध होकर मन्त्रमय इस जगत् को आविर्भूत किया करती है।

विश्वात्मना प्रबुद्ध्वा सा सूते मन्त्रमयं जगत्।[10]

22. शब्दार्थ रूप से नि:शेष विश्व की जननी वह भगवती कुण्डलिनी परादेवता जब एक गुणित संख्या में रहती है तो वह वेद का आदि बीज = ॐ (ओंकार), श्री बीज (श्रीं), शक्तिबीज (ह्रीं), मनोभव बीज (क्लीं), प्रासाद, तुम्बरु, पिण्ड, चिन्तामणि विनायक का, मार्तण्ड, भैरव, दुर्गा, नरसिंह, वराह, वासुदेव, हयग्रीव एवं श्री पुरुषोत्तमबीज एवं इसी प्रकार अन्य एकाक्षर मन्त्रों (यथा-चन्द्रबीज, बिम्बबीज) को आविर्भूत करती है। जब वह ज्ञानस्वरूपा कुण्डलिनी द्विगुणित विग्रहा (दुगुने कलेवरों वाला) हो जाती है तब वह परमात्मा के वाचक 'हं' एवं 'स:' वर्णों को शब्द और अर्थ को दिन और रात्रि को तथा प्रकृति एवं पुरुष को आविर्भूत करती है। वह जगत् के समस्त युग्म पदार्थों को जन्म देती है। जब वह कुलशक्ति त्रिगुणित (तिगुने शरीर वाली) होती है, तब वह त्रिपुरामन्त्र, शक्ति विनायक मन्त्र, पाशादि त्र्यक्षर मन्त्र, त्रैपुर चण्डेश्वर मन्त्र, सौरमन्त्र, मृत्युञ्जयमन्त्र, शक्त्योद्भूत-मन्त्रद्वय, गारुड़मन्त्र, वागीश्वरी त्र्यक्षर मन्त्र, नीलकण्ठ के विषहारी त्र्यक्षर मंत्र, देवी के त्रिगुणित यन्त्र, लोकत्रय, गुणत्रय, धामत्रय, वेदत्रय, वर्णत्रय, तीर्थत्रय, स्वरतत्र, देवत्रय, देवीत्रय, अग्निलय शक्तित्रय, कालत्रय, वृत्तित्रय, नाड़ित्रय, वर्गत्रय तथा इनके अतिरिक्त शेष (दोषत्रय आदि) की भी उद्भाविका या जननी है। (शारदातिलक, 1.58-66) वही महाशक्ति (कुण्डलिनी) से मिलकर जीव को पूर्णत्व प्रदान करती है। जैसा कि—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।।[11]

तथैव—

मनस्तत्त्वं जित्वा नयनमथ नासाग्रघटितं
पुनर्व्यावृत्ताक्षः स्वयमपि यदा पश्यति पराम्।
तदानीमेवास्य स्फुरति बहिरन्तर्भगवती
परानन्दकारा परशिवपरा काचिदपरा।।[12]

जब सर्वकल्याणकारिणी शाम्भवी कुण्डलिनी चतुर्गुणित (चौगुनी) बनती है तब वह सूर्य के प्रणव, माया, हं एवं इस प्रकार चार अक्षरों में व्यक्त होती है। वह महालक्ष्मी के चतुरक्षर मन्त्र, देवी के तत्त्वचतुष्टय (आत्मतत्त्व, विद्या तत्त्व, शिवतत्त्व एवं सर्वतत्त्व), चतुः समुद्र, अन्तः करणचतुष्टय, वाक्चतुष्टय (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी), भावचतुष्टय, गणेचतुष्टय, आत्मचतुष्टय, पीठचतुष्टय (उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि, कामरूप), धर्मादिचतुष्टय (पुरुषार्थचतुष्टय), दमादिचतुष्टय (शम, दम, तितिक्षा, उपरति), गजचतुष्टय तथा अन्य चतुष्टय (यथा सिद्ध, मण्डल, दीक्षा, हेरम्ब मन्त्रा, देवी, दूती एवं बीजचतुष्टय आदि) को उत्पन्न करती है।[13]

इसी प्रकार भगवती कुण्डलिनी पञ्चगुणित, षड्गुणित, सप्तगुणित, अष्टगुणित, नवगुणित, दशगुणित, एकादशगुणित, द्वादशगुणित एवं द्वात्रिंशद्भेदगुणित होकर स्वस्वरूप को व्यक्त करती है।[14] भगवती कुण्डलिनी अपने को छत्तीस स्वरूपों में अभिव्यक्त करके शिव सम्बन्धी छत्तीस तत्त्वों को प्रकट करती है और छत्तीस मंत्रों एवं मन्त्रसमुदाय को निर्मित करती है। जैसा कि—

अनेन क्रमयोगेन गुणिता शिववल्लभा। षट्त्रिंशतश्च तत्त्वानां शैवानां रचयत्यसौ।।
अन्यान् मन्त्रांश्च यन्त्राणि शुभदानि प्रसूयते। द्विचत्वारिंशता मूले गुणिता विश्वनायिका।।[15]

वही विश्वनायिका, शब्दब्रह्ममयी, सर्वव्यापिका कुण्डलिनी शक्ति जब मूल में बयालीस गुना रूप धारण करती है तब उसकी सृष्टि का क्रम इस प्रकार होता है— शक्ति-ध्वनि-नाद-निरोधिका-अर्द्धेन्दु-बिन्दु - परा -पश्यन्ती -मध्यमा-वैखरी।[16]

जगन्माता शब्दब्रह्मस्वरूपा कुण्डलिनी—

चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः।
तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।।
वर्णात्मनाऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः।। — *शारदातिलक*, 1.13-14

भारतीय साधना और संस्कृति में योग के विविध आयामों में कुण्डलिनी साधना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थूलतम आधार से शुरू होकर सूक्ष्म से सूक्ष्म होती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म का अतिक्रमण कर परम सत्य तक पहुँचती हैं कुण्डलिनी साधना अपने विकास की ऊँचाइयों, योग के अनेक आयामों और विविध प्रक्रियाओं

को अपने में समाहित कर लेती है। इसलिए इस साधना को सिद्धयोग और महायोग कहते हैं। कुण्डलिनी साधना आन्तरिक रूपान्तरण और आन्तरिक जागरण की एक विशेष वैज्ञानिक प्रक्रिया है। जिसका परिणाम है—परम शान्ति, परम आनन्द और परम सुख।

संदर्भ

1. *नित्याशोडषिकार्णव*, 4/12-16।
2. *योगिनीहृदय*, पटल-1, चक्र संकेत, श्लोक सं0 41-47।
3. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 72-74½।
4. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 75-83।
5. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 100-140।
6. *भारतीय शक्ति साधना, वामकेश्वरतंत्र*, पृ0 187।
7. *शारदातिलक*, पटल एक, श्लोक सं0 51।
8. *शारदातिलक*, पटल एक, श्लोक सं0 55½।
9. *शारदातिलक*, पटल एक, श्लोक सं0 56।
10. *शारदातिलक*, पटल एक, श्लोक सं0 57।
11. *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक सं0 9।
12. *सुभगोदयस्तोत्र*, श्लोक सं0 2।
13. *शारदातिलक*, पटल एक, श्लोक सं0 58-71।
14. *शारदातिलक*, पटल एक, श्लोक सं0 55-108।
15. *शारदातिलक*, पटल एक, श्लोक सं0 106-107।
16. *शारदातिलक*, पटल एक, श्लोक सं0 111-112।

पूर्व अनुसन्धाता, वैदिकदर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-05

श्रीनेत्रतन्त्र में वर्णित योगसाधना में अष्टांगयोग का दार्शनिक स्वरूप

डॉ. प्रदीप

संक्षिप्तिका (**Abstract**)—भारतीय ज्ञान संस्कृति को विश्व की प्राचीनतमा संस्कृति माना गया है। यह संस्कृति विश्व के बौद्धिक पटल पर भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म, योग, तन्त्र और सृष्टिविषयक रहस्यात्मक विषयों का ज्ञान सहजता से प्रतिपादित करती है। योग को भारतीय साधना सनातन ज्ञानधारा का अभिन्न अंग कहा गया है। योग का शाब्दिक अर्थ है—जुड़ना। संस्कृत भाषा के व्याकरण में योग शब्द को युज् समाधौ धातु से सिद्ध माना जाता है। जिसका अर्थ होता है—समाधि। योग साधना और अभ्यास का विषय है। योग में जीव के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार किया जाता है। योग के द्वारा ही जीव आत्मदर्शन प्राप्त करता है। भारतीय ज्ञानपरम्परा के आद्य से लेकर अद्यावधि पर्यन्त ग्रन्थों में योग के संदर्भ में साधनापरक विस्तार से वर्णन मिलता है। पातञ्जलयोगदर्शन में कहा गया है कि—"**योगश्चितवृत्तिनिरोधः**"। अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता है।[1] योग को कर्म कार्यों की कुशलता माना गया है। *श्रीमद्भगवद्गीता* मे श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं—"**योगः कर्मसु कौशलम्।**"[2] भारतीय ज्ञानपरम्परा की विभिन्न ज्ञानविधाओं में योग के स्वरूप और साधना पद्धति पर विस्तार से वर्णन मिलता है। भारतीय निगमामूलक संस्कृति ज्ञानमणिकों में योग परमात्मा के साक्षात्कार का सर्वोत्तम साधन है।

प्रस्तुत शोधपत्र में "श्रीनेत्रतन्त्र में वर्णित योगसाधना में अष्टांगयोग का दार्शनिक स्वरूप" के संदर्भ में अष्टांग योग की साधना का निरूपण अवधारणात्मक दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है। जिसमें योग के विभिन्न पक्षों पर साधना की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

शब्द-संकेत (Key-Words)—श्रीनेत्रतन्त्र का परिचय, सृष्टि का स्वरूप, साधनापद्धति में योग का अर्थ, स्वरूप, योग के प्रकार प्रकार, दार्शनिक स्वरूप।

विषयवस्तु (Subject)—काश्मीरशैवदर्शन की शिवाद्वयवादी ज्ञानपरम्परा में *श्रीनेत्रतन्त्र* का अन्यतम स्थान है। यह आगम मृत्युञ्जयभटारक के नाम से भी जाना जाता है। *श्रीनेत्रतन्त्र* भैरवागम के अद्वैत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला साधनापरक आगम है। इसको त्रिक सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। जिसमें नर, शक्ति और शिव के अद्वैतवादी यामलस्वरूप का उपबृंहण किया गया है। शिवाद्वयवाद में परम शिव के सृष्टि के सर्वोच्च सत्ता माना गया है। शिव ही स्वेच्छा से जगत् का निर्माण करते हैं। विश्वसिद्धि का हेतु चिति

है। *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* में कहा गया है—चित्ति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:।[3] यह चित्ति सदैव शिव के अद्वैतभाव में स्थित होती है।

श्रीनेत्रतन्त्र का परिचय

नेत्रतन्त्र शिवाद्वयवाद के मूल चतु:षष्टि भैरवागमों के अन्तर्गत अद्वैत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला प्रमुख आगम ग्रन्थ है। इसमें दो शब्द नेत्र और तन्त्र है। नेत्र शब्द णीञ् (नी) प्रापणे धातु से 'दाम्नीशस्यु युजस्तुतुदसिचमिहपतदशनह:' करणे से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय के संयोग से बनता है।[4] जिसको "नीयते इति नेत्रम्: कहा जाता है। नेत्रतन्त्र में स्पष्ट कहा गया है—"नियन्त्रितानां बद्धानां त्राणं तन्नेत्रमुच्यते"। अर्थात् जो नियन्त्रित या बद्ध जीव को बन्धन से त्राण करता है अथवा मोक्ष प्रदान करता है। वह नेत्र कहा जाता है। नेत्रतन्त्र में इसको नेत्र, मृत्युजित्, अमृतेश तथा भैरव आदि के नामों से कहा गया है। इसको मृत्युञ्जभट्टारक भी कहा जाता है। नेत्रतन्त्र में सृष्टि प्रकिया के संदर्भ में यह प्रकृष्ट परमात्मा कहलाता है। *नेत्रतन्त्र* के प्रथम अधिकार में कहा गया है कि—

त्रिधा तिसृष्ववस्थासु रूपमास्थाय शक्तिमान्।
उद्भवस्थितिसंहारान् कृत्स्नविश्वस्य शक्तित:॥
विधाता यो नमस्तस्मै शुद्धामृतमयात्मने।
शिवाय ब्रह्मविष्णवीशपराय परमात्मने॥

अर्थात् परमशिव तीन अवस्थाओं में तीन प्रकार का स्वरूप धारण करके जो शक्तिमान् अपनी शक्ति से तीन प्रकार का स्वरूप धारण करके सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाले हैं।

उस शुद्ध, अमृतमय ब्रह्मा विष्णु और ईश्वर की अपेक्षा प्रकृष्ट परमात्मा शिव को मेरा नमस्कार है।[5] यह शिव सृष्टि स्थिति और संहार तीनों शरीरों का स्वयं धारण करता है।[6] यह शिव शक्तिमान् होते हुए भी अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा ब्रह्माण्ड, प्रकृत्याण्ड और मायाण्ड तथा अन्दर हृदय आदि में जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति वाली उस अवस्थाता के द्वारा आभासित अवस्थाओं में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप धारण करके मायापर्यन्त सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार को यथायोग्य बनाने वाले हैं। उसी प्रकार लय अधिकार और भोग नामक तीन अवस्थाओं में अनाश्रित शिव, सदाशिव और ईश्वर स्वरूप धारण करके शुद्धाध्वा वाले सम्पूर्ण विश्व का यथोचित उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं। निग्रह और अनुग्रह स्थिति और संहार स्वरूप ही हैं। इस प्रकार यह देवाधिदेव पञ्चकृत्यकारी हैं।[7] यह शिव अपनी शक्ति के द्वारा विश्व का निर्माण करते हैं। यह समस्त विश्व का ऊर्ध्वभवन, चिदग्न्यन्तकार, प्रकाश, आनन्द और सद्भाव स्वरूप, अनुद्भव आदि के विधाता है। प्राणियों में इसको प्राण कहा गया है।[8]

सृष्टि के निर्माण यह शिव अनेकविध स्वरूपों में विभक्त होकर अपने आनन्द के लिये लीला करता है। यह शुद्ध, व्यापक, सर्वतोमुखी, समस्त प्राणियों में रहने वाला, सभी प्राणियों का जीव, योगगम्य तथा पापियों का नाशक, समस्त ओजों का ओज, शाश्वत, अचल ध्रुव है। वह मेरी इच्छा शक्ति मेरी स्वाभाविकी शक्ति है। जो अनन्त शक्तियों से युक्त है। समस्त संसार का कारण है। यही ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहलाती है। सूर्य चन्द्रमा और वह्नि तीनों तेजों की कल्पना ही तीनों नेत्रों की कल्पना की जाती है। इस प्रकार से यह दहन आप्यायन और प्रकाश करता है।[9] मृत्युजित् कहलाने वाला यह सभी को मोक्ष प्रदान करता है।[10] इसके द्वारा जीव मोक्ष को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। साधक इसकों सतत अभ्यास के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। यही योगियों के द्वारा मनन किया जाता है। योगशक्ति के द्वारा यह कारण बनकर (शिव) सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। यथा—**"योगशक्त्या तु योगेश तेन व्याप्तमिदं जगत्"**।[11]

नेत्रतन्त्र में इसके परम ध्रुव स्वरूप के संदर्भ में कहा गया है—

भीतानां सा परा रक्षा त्रस्तानामभयं परम्।
शत्रुभिश्चार्दितानां तु मोक्षदं परमं ध्रुवम्॥

अर्थात् वह भयभीत की परम रक्षा है और त्रस्तों का परम अभय है तथा शत्रुओं के द्वारा पीड़िता को परम मोचक निश्चय ही होता है।[12]

इस प्रकार से यह त्रिनेत्रधारी शिव मन्त्र, ज्ञान और योग के द्वारा मोक्षप्रद और सिद्धि प्रदान करने वाला बनकर श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। यह त्रितनु का स्वरूप धारण करके विश्वाद्य, विश्वरूपान्त, विश्वहा, अमृत, कन्दल, ज्तोति और ध्वनि, पराशक्ति एकरूप बनकर साधक का उद्धार करते हैं।[13] साधकों द्वारा यह प्रणव रूप में ध्यान किया जाता है। प्रणव में समस्त संसार बँधा हुआ है। इस प्रणव से ही सात करोड़ अधिकारी मन्त्र उत्पन्न होते हैं।[14] योग साधकों के हृदय में निवास करने वाले मन्त्र साधकों को शिव की प्रारम्भिक अनुभूति करवाते हैं। सभी मन्त्रों के अधिष्ठाता होने के कारण यह मन्त्रराज कहलाते हैं। षट्चक्रों के द्वारा इन मन्त्रों को शोधित किया जाता है। जिससे सदाशिव और तुम्बुरु, भैरव एवं वीरनायक आदि परमेश्वर के स्वरूपों का ध्यान किया जाता है।[15]

साधना पद्धति का स्वरूप

साधक जब साधना में निरन्तर लीन रहता है, तब उसको अनेकविध योगप्रक्रियायों से होकर गुजरना पड़ता है। जैसे दीक्षा, मुद्राओं का अभ्यास, यज्ञकर्म एवं जपकर्म इत्यादि। पाँच दीक्षाओं से अथवा पदों से, पचास वर्णों से, मन्त्रों से अथवा भुवनों से दीक्षा होती है।[16] साधकों को योजनिका दीक्षा भी ग्रहण करनी चाहिए। जप आदि कर्मों में अभिषेक भी किया जाता है। इस समय याग, होम एवं जप भी क्रमश: चलता रहता है। सम्पूर्ण शरीर आनन्द की अनुभूति करता हुआ साधक शिव और शक्ति से युक्त होकर दिव्य हो जाता है।

वह इस शरीर से ऋतुचक्र, स्वाधार, तीन लक्ष्य, पाँच आकाश, बारह ग्रन्थियाँ, तीन शक्तियाँ, तीन धामपथ और तीन नाड़ीपथ, दश नाड़ीपथ और बारह हजार साड़े तीन करोड़ नाड़ीपथों से युक्त अपने शरीर को सींचता हुआ वह व्याधियों से रहित होकर दिव्य हो जाता है।[17]

साधनामय शरीर का स्वरूप

यह शरीर छः चक्रों वाला है। ये चक्र जन्मस्थान (मूलाधार) नाभि, हृदय,तालु और बिन्दु एवं नाद में रहते हैं। इनके नाम हैं—नाड़ी, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त। जीव के सभी आधारों से यह शरीर संचालित होता रहता है। इनमें नाड़ी, पेट, हृदय, कूर्म नाड़ी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त आदि होते हैं। मूलतः पाँच आकाश उस शरीर में रहते हैं । जिनमें जन्मस्थान, नाद, बिन्दु, नाभि और हृदय का परिगणन होता है। योग साधना में सारा शरीर तपोमय हो जाता है। इसकी सभी ग्रन्थियाँ तेजयुक्त होकर कार्य करती हैं। जिनमें चैतन्य का आवरक होने के कारण ये ग्रन्थियाँ माया, पाशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका और दीपिका, बैन्दव, नाद, शक्ति आदि पाशों से युक्त इच्छा,ज्ञान और क्रिया शक्ति द्वारा सोम सूर्य और वह्नि रूप में तेज रूपी रास्ते से पवन रूप में अधिष्ठित हैं।[18] यह शरीर आणव और मायीय मल से युक्त होने के कारण मलिन है। इसको स्वच्छ करने हेतु साधना मार्ग ही अपनाया जाता है। सभी ग्रन्थियों का शोधन किया जाता है। जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि और जन्म में पाशव नामक ग्रन्थि रहती है। ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ये पाँच ग्रन्थियाँ कारणों में रहती हैं। इन्धिका नामक ग्रन्थि द्विमार्ग के सम्पूर्ण शमन का हेतु है, इसलिये शिव है, उसके ऊपर दीपिका तथा उसके ऊपर बैन्दव नामक ग्रन्थि है। यहाँ पर नाद नामक महाग्रन्थि है और इसके बाद शक्ति ग्रन्थि है। इन बारह ग्रन्थियों का भेदन करके योगी परम पद में प्रवेश करता है।[19] नाद यहाँ महाग्रन्थि है, क्योंकि यह अन्य ग्रन्थियों का अन्तर्भावित करती है। इन सभी का योगी द्वारा अनुभव किया जाता है। शरीर के शोधन में महत्त्वपूर्ण शून्य और चन्द्र स्थान होते हैं। नेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार में स्पष्ट कहा गया है—

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम्।
तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यतः।
नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते।।
जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम्।।
हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम्।
बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते।।

पहला शून्य जन्मस्थान है। नाभि में दूसरा शून्य है। तीसरा शून्य हृदय में तथा चौथा शून्य बिन्दु के मध्य में स्थित है। पाँचवाँ नाद कहलाता है। जन्मस्थान में नाड़ीचक्र, नाभि में माया चक्र, हृदय में योगी चक्र, तालु

में भेदन, बिन्दु में दीप्ति तथा नाद मे शान्त चक्र स्थित कहा जाता है।[20] इस प्रकार से योग साधक के साधनामय शरीर का वर्णन प्रतिपादित है।

साधना में योग का अर्थस्वरूप विश्लेषण

नेत्रतन्त्र के अनुसार योगसाधन में योगी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है वह चित्त की एकग्रता के लिए योगीचक्र को आत्मसात् करते हुए स्वशरीरस्य ज्ञानग्रन्थियों का भेदन करे और योगसाधना का निरन्तर अभ्यास होता रहे। इसके संदर्भ में *नेत्रतन्त्र* के अष्टम अधिकार में योग के विविध दार्शनिक बिन्दुओं का वर्णन उपलब्ध होता है। जिनका प्रतिपादन यहाँ किया गया है।

योग का अर्थ

योग के व्यापक स्वरूप में जीव के द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है। इसके संदर्भ में *मालिनीविजयोतरतन्त्र* में कहा गया है—"**योगमेकत्वमिच्छन्ति**"।[21] यह योग नेत्रतन्त्र में भैरव के द्वारा आठ प्रकार से परिभाषित किया गया है। योगसाधना के द्वारा ही योगी उस परमतत्त्व को प्राप्त करता है—"**अष्टाङ्गेन तु योगेन प्राप्नुयान्नान्यत: क्वचित्**"।[22] इस प्रकार से यह योग आठ भागों में विभक्त है। जिसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

1. **यम**—"संसाराद्विरतिर्नित्यं यम: पर उदाहृत:"। अर्थात् संसार से साश्वत विरति को पर(उत्कृष्ट) यम कहा गया है।[23]

2. **नियम**—"भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते"। अर्थात् पर तत्त्व में नित्य की भावना करना नियम कहा गया है।[24]

3. **आसन—"मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानमथान्तरम्।**
आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभते"॥

अर्थात् साधना अवस्था में प्राण और अपान मार्गों के बीच मध्य प्राण को अपान बनाकर ज्ञानशक्ति के आलम्बन के द्वारा उसमें स्थिति होना आसन है।[25]

4. **प्राणायाम—"प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्तवा सूक्ष्मामथान्तरम्।**
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यत:॥
प्राणायाम: स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुन:"।

अर्थात् स्थूल भाव का त्याग करके एवं सूक्ष्म भाव का त्याग करके जिसके द्वारा सूक्ष्मातीत पर स्पनदन प्राप्त किया जाता है। वह प्राणायाम कहलाता है।[26]

5. प्रत्याहार—"शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते।।
त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धास परमं तत्स्वचेतसा।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तक:"॥

अर्थात् चित्त के द्वारा शब्द आदि गुणों की जिस वृत्ति का अनुभव योगी के द्वारा किया जाता है। उस वृत्ति को छोडकर योगी अपने चित्त से उस परम धाम में प्रवेश करे। यही संसारबन्धन का नाशक प्रत्याहार कहा जाता है।[27]

6. ध्यान—"धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम्।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्य ध्यानं तच्च विदुर्बुधा:"॥

अर्थात् योगसाधना अवस्था में बुद्धि के गुणों का अतिक्रमण करके निर्ध्येय अव्यय व्यापक स्वसंवेद्य ध्येय के ध्यान को विद्वानों ने ध्यान माना है।[28]

7. धारणा—"धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धनविनाशिनी"॥

अर्थात् जिसके द्वारा सर्वदा परमात्मा को धारण किया जाता है वही धारणा है।[29]

8. समाधि—"समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रह:।
समाधानमिति प्राक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम्"॥

अर्थात् समस्त प्राणियों में चित्त का अधान करना और निग्रह का समाधान करना समाधि कहा गया है। इसके विपरीत लोकदम्भ है।[30] इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने पर जीव संसार से मुक्त हो जाता है। वह स्वयं को "शिवोऽहम्" तथा "अद्वितीयोऽहम्" का अनुभव करता है। *नेत्रतन्त्र* में कहा भी गया है—

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समनधी:।
शिवोऽहंमद्वितीयोऽहं समाधि :स पर :स्मृत:॥

अर्थात् इसको मैं शिव हूँ, एकमात्र हूँ । यही पर समाधी कही गई है।[31]

इस प्रकार से योगसाधना के संदर्भ में अष्टांग योग की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। योगसाधना में योग के सभी अंगों का योगी के द्वारा पालन किया जाता है। इस प्रकार से साधक सर्वज्ञत्व आदि गुणों से अपना विकास करके परम कारण साभास शिव कहा जाता है। वह संसार में अनेक नामों से विख्यात होता है। वह सभी शास्त्रों की सिद्धि प्राप्त करता है—

यत्र यत्र स्थितो वापि येन येन व्रतेन वा।
येन येन च योगेन भावभेदेन सिद्ध्यति॥[32]

भगवान् शिव उसकों मृत्युञ्जय होने का वरदान भी प्रदान करते हैं, जिससे वह दुर्लभ ज्ञान को प्राप्त करता है।

उपसंहार (conclusion)

अन्त में निष्कर्ष रूप में स्वयं स्पष्ट होता है कि नेत्रतन्त्र में वर्णित योगसाधना में अष्टांग योग को महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। योगसाधना की पराकाष्टा में जितना गहारा तप होता है वैसा ही फल साधक के द्वारा प्राप्त किया जाता है। कहा भी गया है—

तस्माद् भावानुरूपेण साधक :साधने स्थित:।
येन येनैव भावेन तस्य तत्फलदो भवेत्॥

अर्थात् साधक जिस भाव के अनुरूप जिस जिस भाव से साधना में स्थित होता है वह देव उसको वैसा ही फल प्रदान करते हैं।[33] अत: योगसाधकों द्वारा *नेत्रतन्त्र* के अनुरूप योगसाधना को अपनाकर योगसिद्धि के फलों को सहज ही प्राप्त किया जा सकता है तथा योग के सभी अंग योगसाधना में प्रकाशपुञ्ज की भाँति कार्य करते हैं। अत: यह लेख नि:सन्देह शोधार्थियों एवं विद्यार्थियों के लिए लाभप्रद सिद्ध होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

1. *श्रीनेत्रतन्त्रम्* (मृत्युञ्जयभट्टारक) : द्विवेदी, राधेश्याम, आचार्य, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2004
2. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* : क्षेमराज, सिंह, जयदेव, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली- 1963
3. *मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्* : मिश्र, परमहंस, हिन्दी टीका सहित : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2010
4. *काश्मीरीय शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र* : द्विवेदी, श्यामकान्त, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2009

सन्दर्भ

1. *पातञ्जलयोगसूत्रम्*, 1/2
2. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 2/50
3. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्*, सूत्र संख्या, 1
4. *पाणिनीयसूत्रम्*, 3.2.182
5. *नेत्रतन्त्रम्*, प्रथम अधिकार, श्लोक, 1
6. *नेत्रतन्त्रम्*, प्रथम अधिकार, श्लोक, 31 "सृष्टिं स्थितिं संहृतिं च त्रितनुर्विदधाम्यहम्"।
7. *नेत्रतन्त्रम्*, प्रथम अधिकार, वृत्ति, पृ०, 4
8. *नेत्रतन्त्रम्*, अधिकार-22, श्लोक, 14 "प्रणव: प्राणिनां प्राण:"
9. *नेत्रतन्त्रम्*, प्रथम अधिकार, श्लोक, 22-30

10. *नेत्रतन्त्रम्*, प्रथम अधिकार, श्लोक, 34 "मृत्युजित्तेन चाख्यातं सर्वेषां मोक्षदायकम्"।
11. *नेत्रतन्त्रम्*, प्रथम अधिकार, श्लोक, 44
12. *नेत्रतन्त्रम्*, प्रथम अधिकार, श्लोक, 45
13. *नेत्रतन्त्रम्*, द्वितीय अधिकार, श्लोक, 21
14. *नेत्रतन्त्रम्*, द्वितीय अधिकार, श्लोक, 22
15. *नेत्रतन्त्रम्*, तृतीय अधिकार, श्लोक – 25-26
16. *नेत्रतन्त्रम्*, चतुर्थ अधिकार, श्लोक, 2-3
17. *नेत्रतन्त्रम्*, सप्तम अधिकार, श्लोक, 1-5
18. *नेत्रतन्त्रम्*, सप्तम अधिकार, वृत्ति, पृ०, 118
19. *नेत्रतन्त्रम्*, सप्तम अधिकार, श्लोक- 22-24
20. *नेत्रतन्त्रम्*, सप्तम अधिकार, श्लोक- 27-29
21. *मालिनिविजयोत्तरतन्त्रम्*, 4.4
22. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-9
23. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-10
24. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-10
25. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-11
26. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-12
27. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-13-14
28. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-15
29. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-16
30. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-17
31. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक-18
32. *नेत्रतन्त्रम्*, अष्टम अधिकार, श्लोक - 55
33. *नेत्रतन्त्रम्*, नवम अधिकार, श्लोक - 15

डॉ. प्रदीप (सहायक प्रोफेसर)
संस्कृत विभाग (साहित्य विद्यापीठ)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)
दूरभाष : 9996884695

दस महाविद्याओं का दार्शनिक रहस्य

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

विद्यास्वरूपा महाशक्ति : दस महाविद्याएँ और उनकी साधना

महाशक्ति विद्या और अविद्या दोनों ही रूप में विद्यमान हैं। अविद्या-रूप में वे प्राणियों के मोह की कारण हैं तो विद्या-रूप में मुक्ति की। शास्त्र और पुराण उन्हें विद्या के रूप में और परम-पुरुष को विद्यापति के रूप में मानते हैं। वेद तथा अन्यान्य शास्त्रों के रूप में विद्या का प्रकट रूप और आगमादि के रूप में विद्वानों एवं साधकों द्वारा गुप्त रूप में संकेतित है। वैष्णवी और शाम्भवी-भेद से दोनों की ही शरणागति परम लाभ में हेतु है। आगमशास्त्रों में यद्यपि गुह्य गुरुमुखगम्य अनेक विद्याओं के रूप, स्तव और मन्त्रादिकों का विधान है, तथापि उनमें दस महाविद्याओं की प्रधानता तो स्पष्ट प्रतिपादित हैं, जो जगन्माता भगवतीसे अभिन्न हैं—

साक्षाद् विद्यैव सा न ततो भिन्ना जगन्माता।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः॥ — *वरिवस्यारहस्यम्* 2/107

महाविद्याओं की प्रादुर्भाव कथा

दस महाविद्याओं का सम्बन्ध परम्परातः सती, शिवा और पार्वती से है। ये ही अन्यत्र नवदुर्गा, शक्ति, चामुण्डा, विष्णुप्रिया आदि नामों से पूजित और अर्चित होती हैं। महाभागवत में कथा आती है कि दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में शिव को आमन्त्रित नहीं किया। सती ने शिव से उस यज्ञ में जाने की अनुमति माँगी। शिव ने अनुचित बताकर उन्हें जाने से रोका, पर सती अपने निश्चय पर अटल रहीं। उन्होंने कहा—'मैं प्रजापतिके यज्ञ में अवश्य जाऊँगी और वहाँ या तो अपने प्राणेश्वर देवाधिदेव के लिये यज्ञभाग प्राप्त करूँगी या यज्ञ को ही नष्ट कर दूँगी। यह कहते हुए सतीके नेत्र लाल हो गये। वे शिव को उग्र दृष्टि से देखने लगीं। उनके अधर फड़कने लगे, वर्ण कृष्ण हो गया। क्रोधाग्निसे दग्ध-शरीर महाभयानक एवं उग्र दीखने लगा। उस समय महामायाका विग्रह प्रचण्ड तेज से तमतमा रहा था। शरीर वृद्धावस्था को सम्प्राप्त-सा, केशराशि बिखरी हुई, चार भुजाओं से सुशोभित वे महादेवी पराक्रम की वर्षा करती-सी प्रतीत हो रहीं थीं। कालाग्नि के समान महाभयानक रूप में देवी मुण्डमाला पहने हुई थीं और उनकी भयानक जिह्वा बाहर निकली हुई थी। शीश पर अर्धचन्द्र सुशोभित था और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकराल लग रहा था। वे बार-बार विकट हुंकार कर रही थीं। देवीका यह स्वरूप साक्षात् महादेव के लिये भी भयप्रद और प्रचण्ड था। उस समय उनका श्रीविग्रह

करोड़ों मध्याह्न के सूर्य के समान तेजःसम्पन्न था और वे बारंबार अट्टहास कर रही थीं। देवी के इस विकराल महाभयानक रूप को देखकर शिव भाग चलें। भागते हुए रुद्र को दसों दिशाओं में रोकने के लिये देवीने अपनी अङ्गभूता दस देवियों को प्रकट किया। देवी की ये स्वरूपा शक्तियाँ ही दस महाविद्याएँ हैं, जिनके नाम हैं—काली, तारा, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, कमला, त्रिपुर भैरवी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी और मातङ्गी।

शिव ने सती से इन महाविद्याओं का जब परिचय पूछा, तब सती ने स्वयं इसकी व्याख्या करके उन्हें बताया—

येयं ते पुरतः कृष्णा सा काली भीमलोचना।
श्यामवर्णा च या देवी स्वयमूर्ध्व व्यवस्थिता।।
सेयं तारा महाविद्या महाकालस्वरूपिणी।
सव्येतरेयं या देवी विशीर्षातिभयप्रदा।।
इयं देवी छिन्नमस्ता महाविद्या महामते।
वामे तवेयं या देवी सा शम्भो भुवनेश्वरी।।
पृष्ठतस्तव या देवी बगला शत्रुसूदनी।
वह्निकोणे तवेयं या विधवारूपधारिणी।।
सेयं धूमावती देवी महाविद्या महेश्वरी।
नैर्ऋत्यां तव या देवी सेयं त्रिपुरसुन्दरी॥
वायौ या ते महाविद्या सेयं मतङ्गकन्यका।
ऐशान्यां षोडशी देवी महाविद्या महेश्वरी॥
अहं तु भैरवी भीमा शम्भो मा त्वं भयं कुरु।
एताः सर्वाः प्रकृष्टास्तु मूर्तयो बहुमूर्तिषु।।

— *महाभागवत,* 8/65-71

'शम्भो! आपके सम्मुख जो यह कृष्णवर्णा एवं भयंकर नेत्रों वाली देवी स्थित है वह 'काली' है। जो श्याम वर्णवाली देवी स्वयं ऊर्ध्व भाग में स्थित है, यह महाकालस्वरूपिणी महाविद्या 'तारा' है। महामते! बायीं ओर जो यह अत्यन्त भयदायिनी मस्तकरहित देवी है, वह महाविद्या 'छिन्नमस्ता' है। शम्भो! आपके वामभागमें जो यह देवी है, वह 'भुवनेश्वरी' है। आपके पृष्ठभाग में जो देवी है, वह शत्रु संहारिणी 'बगला' है। आपके अग्निकोण में जो यह विधवा का रूप धारण भरने वाली देवी है, वह महेश्वरी- महाविद्या 'धूमावती' है। आपके नैर्ऋत्यकोण में जो देवी हैं, वह 'त्रिपुरसुन्दरी' भैरवी है। आपके वायव्यकोण में जो देवी है, वह मतङ्गकन्या महाविद्या 'मातङ्गी' की है। आपके ईशानकोण में महेश्वरी महाविद्या 'षोडशी' देवी हैं। शम्भो ! मैं भयंकर रूप वाली 'भैरवी' हूँ। आप भय मत करें। ये सभी मूर्तियाँ बहुत-सी मूर्तियों में प्रकृष्ट हैं।'

महाभागवत के इस आख्यान से प्रतीत होता है कि महाकाली ही मूलरूपा मुख्य हैं और उन्हींके उग्र और सौम्य दो रूपों में अनेक रूप धारण करने वाली ये दस महाविद्याएँ हैं। दूसरे शब्दों में महाकालीके दशधा प्रधान रूपों को ही दस महाविद्या कहा जाता है। सर्व-विद्यापति शिव की शक्तियाँ ये दस महाविद्याएँ लोक और शास्त्र में अनेक रूपों में पूजित हुई, पर इनके दस रूप प्रमुख हो गये। वे ही महाविद्याएँ, साधकों की परम धन हैं जो सिद्ध होकर अनन्त सिद्धियाँ और अनन्त का साक्षात्कार कराने में समर्थ हैं।

महाविद्याओं के क्रम-भेद तो प्राप्त होते हैं, पर काली की प्राथमिकता सर्वत्र देखी जाती है। यों भी दार्शनिक दृष्टि से कालतत्त्व की प्रधानता सर्वोपरि है। इसलिये मूलतः महाकाली या काली अनेक रूपों में विद्याओं की आदि हैं और उनकी विद्यामय विभूतियाँ महाविद्याएँ हैं। ऐसा लगता है कि महाकाल की प्रियतमा काली अपने दक्षिण और वाम रूपों में दस महाविद्याओं के रूप में विख्यात हुई और उसके विकराल तथा सौम्य रूप ही विभिन्न नाम-रूपों के साथ दस महाविद्याओं के रूप में अनादिकाल से अर्चित हो रहे हैं। ये रूप अपनी उपासना, मन्त्र और दीक्षाओं के भेद से अनेक होते हुए भी मूलतः एक ही हैं। अधिकारिभेद से अलग-अलग रूप और उपासना-स्वरूप प्रचलित हैं।

प्रकाश और विमर्श, शिवशक्त्यात्मक तत्त्व का अखिल विस्तार और लय सब कुछ शक्तिका ही लीला-विलास है। सृष्टि में शक्ति और संहार में शिव की प्रधानता दृष्ट हैं। जैसे अमा और पूर्णिमा दोनों दो भासती हैं, पर दोनों की तत्त्वतः एकात्मता और एक-दूसरे की कारण-परिणामी हैं, वैसे ही दस महाविद्याओं के रौद्र और सौम्य रूपों को भी समझना चाहिये। काली, तारा, छिन्नमस्ता, बगला और धूमावती विद्यास्वरूप भगवती के प्रकट-कठोर किन्तु अप्रकट करुण रूप हैं तो भुवनेश्वरी, षोडशी (ललिता), त्रिपुरभैरवी, मातङ्गी और कमला विद्याओं के सौम्यरूप हैं। रौद्र के सम्यक् साक्षात्कार के बिना माधुर्य को नहीं जाना जा सकता और माधुर्य के अभाव में रौद्र की सम्यक् परिकल्पना नहीं की जा सकती।

सगुण एवं निर्गुण स्वरूप-कथन

यद्यपि दस महाविद्याओं का स्वरूप अचिन्त्य है, तथापि शाखाचन्द्रन्याय से उपासक, स्मृतियाँ और पराम्बा के चरणानुगामी इसमें कुछ निर्वचन अवश्य कर लेते हैं। इस दृष्टि काली-तत्त्व प्राथमिक शक्ति है। निर्गुण ब्रह्म की पर्याय इस महाशक्ति को तान्त्रिक ग्रन्थों में विशेष प्रधानता दी गयी है। वास्तव में इन्हीं के दो रूपों का विस्तार ही दस महाविद्याओं के स्वरूप हैं। महानिर्गुण की अधिष्ठात्री शक्ति होने के कारण ही इनकी उपमा अन्धकार-से दी जाती है। महासगुण होकर वे 'सुन्दरी' कहलाती हैं तो महानिर्गुण होकर 'काली'। तत्त्वतः सब एक है, भेद केवल प्रतीतिमात्र का है। 'कादि' और 'हादि' विद्याओं के रूप में भी एक ही श्रीविद्या क्रमशः काली से प्रारम्भ होकर उपास्या होती हैं। एक को 'संहार- क्रम' तो दूसरेको 'सृष्टि-क्रम' नाम दिया जाता है। *देवीभागवत* आदि शक्ति-ग्रन्थों में महालक्ष्मी या शक्तिबीज को मुख्य प्राधानिक बताने का रहस्य यह है कि इसमें हादि विद्याकी क्रमयोजना स्वीकार की गयी है और तन्त्रों, विशेषकर अत्यन्त गोपनीय

तन्त्रों में काली को प्रधान माना गया है। तात्त्विक दृष्टि से यहाँ भी भेदबुद्धि की सम्भावना नहीं है। 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा' का तर्क दोनों को दोनों से अभिन्न सिद्ध करता है।

बृहन्नीलतन्त्र में कहा गया है कि रक्त और कृष्णभेद से काली ही दो रूपों में अधिष्ठित हैं। कृष्णा का नाम 'दक्षिणा' है तो रक्तवर्णाका नाम 'सुन्दरी'—

विद्या हि द्विविधा प्रोक्ता कृष्णा रक्ता प्रभेदतः।
कृष्णा तु दक्षिणा प्रोक्ता रक्ता तु सुन्दरी मता ॥

उपासना के भेद से दोनों में द्वैत है, पर तत्त्वदृष्टि से अद्वैत है। वास्तव में काली और भुवनेश्वरी दोनों मूल-प्रकृति के अव्यक्त और व्यक्त रूप हैं। काली से कमला- तक की यात्रा दस सोपानों में अथवा दस स्तरों में पूर्ण होती है। दस महाविद्याओं का स्वरूप इसी रहस्य का परिणाम है।

दस महाविद्याओं की उपासना में सृष्टिक्रम की उपासना लोकग्राह्य है। इसमें भुवनेश्वरी को प्रधान माना गया है। वही समस्त विकृतियों की प्रधान प्रकृति है। *देवी भागवत* के अनुसार सदाशिव फलक है तथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर उस फलक या श्रीमञ्च के पाये हैं। इस श्रीमञ्च पर भुवनेश्वरी भुवनेश्वर के साथ विद्यमान है। सात करोड़ मन्त्र इनकी आराधना में लगे हुए हैं। विद्वानों का कथन है कि निर्विशेष ब्रह्म ही स्वशक्ति-विलास के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु आदि पञ्च आख्याओं को प्राप्त होकर अपनी शक्तियों के सान्निध्य से सृष्टि, स्थिति, लय, संग्रह तथा अनुग्रह रूप पञ्च कृत्यों को सम्पादित करते हैं। वह निर्विशेष तत्त्व 'परमपुरुष' पद-वाच्य है और उसकी स्वरूपभूत अभिन्न शक्ति ही है भुवनेश्वरी। यही स्वरूप त्रिपुरसुन्दरी का भी प्रसिद्ध है।

महाविद्याओं के आविर्भाव का देश तथा काल

इन महाविद्याओं के आविर्भाव के देश तथा काल का निर्देश अनेक तन्त्रों में मिलता है। यह देश भारतवर्ष के ही प्रान्त-विशेष के रूप में परिचित है तथा काल विविध पारिभाषिक रात्रियों के नाम से प्रसिद्ध है। साधकों के लिये वह स्थान एवं काल अधिक महत्त्वपूर्ण है, जब जहाँ भगवती का आविर्भाव हुआ। *शक्तिसंगमतन्त्र* के छिन्नमस्ता खण्ड में उन देशों का निर्देश है, जहाँ इन विद्याओं का आविर्भाव हुआ था। यथा अवन्ती में आद्या का, श्रीशैल में (शिवकाञ्ची में) त्रिपुरसुन्दरी का, मेरुगिरि के पश्चिमकूल स्थित चोलह्रद में तारा का, पुष्पभद्रा नदी के तट पर छिन्नमस्ता का, सौराष्ट्र के हरिद्राख्य सिद्धकुण्ड में वगला का, मतंग मुनि के तपःप्रभाव से कदम्ब विपिन में मातंगी का और दक्षप्रजापति के यज्ञ में निर्मित गौरीकुण्ड के धूम से धूमावती का आविर्भाव हुआ। यहाँ उस काल का विवरण भी अनेकत्र दिया गया है। यथा प्रथम खण्ड के षष्ठ एवं त्रयोदश पटलों के पूर्णाभिषेक प्रकरण में और चतुर्थ खण्ड के पञ्चम तथा षष्ठ पटलों में विशद रूप में देखा जाता है। किन्तु *कल्याण* के शक्ति अंक में निर्दिष्ट इन देवियों की आविर्भाव-रात्रियों के साथ

शक्तिसंगमतन्त्र का मतैक्य नहीं है। प्रतीत होता है कि तन्त्रान्तर से इस शक्ति अंक में इन रात्रियों का विवरण संगृहीत हुआ है। यथा फाल्गुन कृष्ण एकादशी तिथि का पारिभाषिक नाम 'महारात्रि' है। इसी रात्रि में यहाँ आद्या (काली) का आविर्भाव कहा गया है। इसी तरह क्रमशः चैत्र शुक्ल नवमी 'क्रोधरात्रि' है। इसमें द्वितीया, अर्थात् तारा का आविर्भाव हुआ। त्रिपुरसुन्दरी का आविर्भाव 'दिव्यरात्रि' अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को हुआ। भुवनेश्वरी का 'सिद्धरात्रि' में चैत्र संक्रान्ति के बाद की अष्टमी में, छिन्नमस्ता का 'वीररात्रि' में कुलाकुलचक्रघटित कुल नक्षत्र से युक्त चर्तुदशी मंगल यदि मकरसंक्रान्ति के मध्य पड़ता हो तो उस समय में, भैरवी का 'कालरात्रि' में अर्थात् कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को यदि अमावस्या का योग हो, धूमावती का 'दारुणारात्रि' वैशाख शुक्ल तृतीया को यदि कुलाकुल नक्षत्र घटित कुल नक्षत्र का योग हो, वगलामुखी का 'घोररात्रि' में अर्थात् अगहन कृष्ण अष्टमी को, मातंगी का 'मोहरात्रि' में अर्थात् भाद्रकृष्ण अष्टमी को और कमला का 'महारात्रि' में आविर्भाव हुआ। इन रात्रियों का विवरण यहाँ स्वतन्त्रतन्त्र से संगृहीत है। *प्राणतोषिणी* तन्त्र में उक्त वचन का उद्धरण उपलब्ध है।

ये दस महाविद्याएं अकेली पूजित नहीं होतीं। इनके साथ शिव की भी पूजा विहित है, जो भैरव नाम से प्रसिद्ध हैं। सांसारिक भय से जो मुक्त करने में समर्थ हो, वही भैरव है। सांसारिक भय से भीत साधक उपासक भगवान् शिव को आर्त स्वर से पुकारता है, उस समय उस साधक के हृदय में जो स्फुरित होते हैं, वही भैरव है। शक्तिसंगमतन्त्र में दस महाविद्याओं के भैरव यथाक्रम इस प्रकार निर्दिष्ट हैं— महाकाल, ललितेश्वर, अक्षोभ्य, क्रोधभैरव, महादेव, कालभैरव, नारायण, बटुक, मतंग, तथा मृत्युंजय[1]। तोडलतन्त्र में यहाँ कुछ पार्थक्य भी है। यथा त्रिपुरसुन्दरी के पञ्चवक्त्र, भुवनेश्वरी के त्र्यम्बक, भैरवी के दक्षिणामूर्ति, छिन्नमस्ता के कबन्ध शिव, धूमावती के कोई नहीं, क्योंकि वह विधवा है, वगलामुखी के एकवक्त्र, कमला के भगवान् विष्णु और काली, तारा तथा मातंगी के महाकाल, अक्षोभ्य एवं मतंग माने गये हैं[2]।

विशेष-विशेष कार्य के लिये विशेष विशेष देवता का आराधन भी शाक्त सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। यद्यपि इष्ट देवता से साधक की सभी मनःकामनाओं की सिद्धि अवश्य संभव है, तथापि शक्तिसंगमतन्त्र के छिन्नमस्ता खण्ड में एक-एक विशेष कार्य के लिये एक-एक महाविद्याविशेष की प्रसिद्धि कही गयी है। जैसे दान में काली, ज्ञान में तारा, राज्यलाभ में त्रिपुरसुन्दरी, अनुग्रह में छिन्नमस्ता, विवाद झगड़ा निबटाने में वगला, वशीकरण में तथा मनःकामना-सिद्धि में मातंगी, शान्ति-स्वस्त्ययन में भुवनेश्वरी, क्रोध कार्य में धूमावती, क्रीडा या लीला में कालिका, वाञ्छा-सिद्धि में सुमुखी, दान में कमला, सत्यसिद्धि में कालिका, ज्ञान में परशिव और ब्रह्माण्ड के निर्माण में राजराजेश्वरी प्रसिद्ध हैं (*शक्तिसंगम तन्त्र, छिन्नमस्ता खण्ड*, 2.69-76)।

दश महाविद्याओं का आध्यात्मिक रहस्य

दश महाविद्या की दश संख्या पूर्णता की प्रतीक है। जीव की 5 अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया और कैवल्य। इसी प्रकार शिव की कृत्य के आधार पर पञ्चरूप होते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव। इस दशविद्या उपासना से साधक क्रमश: अपने दस सोपानों/स्तरों को पार करके शिवत्व को अधिगत कर सकता है। भगवती त्रिपुरसुन्दरी के ललित सहस्रनाम में एक नाम आया है—

कराङ्गुलिनखोत्पन्ननारायणदशाकृतिः। (83)

यहाँ स्तुति है कि ललिता के हाथ की दश अंगुलियों के नखों से दश नारायण की आकृति अर्थात् अवतार हुए है। नारायण के दस अवतार—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण और कल्कि हैं। भण्डासुर दैत्य ने अपने दश अस्त्रों से बार-बार दैत्य पैदा किये जिनका विनाश भगवती के नखों से उत्पन्न नारारयण की आकृति ने किया। अत: युगधर्म से असुरों के विनाश हेतु भगवती की शक्ति ही नये-नये रूप धारण करती है। वैष्णव इन्हें नारायण का अवतार मानते हैं। शाक्त इन्हें महाविद्या बताते हैं। यह कथा *ब्रह्माण्ड पुराण* के *ललितोपाख्यान* (उत्तर भाग, अध्याय 2 श्लोक 91-136) में प्राप्त होती है। तन्त्र के अनेक ग्रन्थों में महाविद्याओं का सम्बन्ध दशावतारों से जोड़ा जाता है तथा शिव से भी जोड़ा गया है। शिव-शक्ति-गणेश तथा विष्णु एक ही तत्त्व हैं। यामल में कहा है—

देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्।
भेदकृन्नरकं याति यावदाभूतसम्प्लवम्। — *आगमरहस्य, 6.724*

देवी और विष्णु के ऐक्य के सम्बन्ध में कहा है—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
वेणुनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत्।।
समुद्रनिग्रहादीनि कुर्वाणा ख्यातिमागता।
छिन्नमस्ता नृसिंहः स्यात् वामनो भुवनेश्वरी।
जामदग्न्यः सुन्दरी स्यात् मीनो धूमावती भवेत्।।
बगला कूर्ममूर्तिः स्यात् बलभद्रस्तु भैरवी।
महालक्ष्मी भवेद् बौद्धो दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी।।
एवं विज्ञाय मतिमान् भेद-भाव विर्जितः।
प्रवृत्या वा निवृत्त्या वा भावयेदिष्टमात्मनः।। — *आगम रहस्य, 6.874-878*

इस प्रकार शिव, शक्ति तथा विष्णु एक ही तत्त्व के विविध दश नाम होते हैं। अधोलिखित सारिणी में यह स्पष्ट है। साधना में साधक को कोई एक रूप से साधना प्रारम्भ करनी होती है। तब गुरु अपने द्वारा

अनुभूत उपासना तथा उपास्य के रूप को साधना हेतु मान्यता देते हैं। अत: तन्त्र में बहुत विस्तार हो जाता है। परन्तु जो साधना का मार्ग है, विश्वास की नींव पर आधारित है। मनोनिग्रह तथा शिवत्व की प्राप्ति ही दश महाविद्या साधना का प्रधान उद्देश्य सिद्ध होता है। साधना किसी भी महाविद्या की हो, अन्ततः सभी एक परब्रह्म के आनन्द की प्राप्ति कर लेते हैं। शक्ति मातृरूपा होने से साधना में सबसे सुगम मानी गई है।

विद्या–गणपति–शिव–भैरव का ऐक्य

विद्या	गणपति	शिव	भैरव	रात्रि	विष्णु
1. काली	एकाक्षर	महाकाल	महाकाल	महा	कृष्ण
2. तारा	द्व्यक्षर	अक्षोभ्य	अक्षोभ्य	क्रोध	राम
3. छिन्नमस्ता	वीर	क्रोध भैरव	कबन्ध	वीर	नृसिंह
4. षोडशी	महा	ललितेश्वर	पंचवक्त्र	दिव्य	परशुराम
5. भुवनेश्वरी	चतुरक्षर	महादेव	त्र्यम्बक	सिद्ध	वामन
6. त्रिपुरभैरवी	वल्लभ	बटुक	दक्षिणमूर्ति	काल	बलभद्र
7. धूमावती	क्षिप्रप्रसादन	कालभैरव	अघोर	दारुण	मीन
8. वगला	हरिद्रा	मृत्युञ्जय	एकवक्त्र	घोर	कूर्म
9. मातङ्गी	वश्य	सदाशिव	मतङ्ग	मोह	कल्कि
10. कमला	सिंह	नारायण	सदाशिव विष्णु	महा	बुद्ध

वरिष्ठ शोध अध्येता
(भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्)
55, गोविन्द नगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
दूरभाष-913970601

काश्यपगीता का मुख्य प्रतिपाद्य

डॉ. समीर कुमार

महाभारत में आश्वमेधिक पर्व के अन्तर्गत अनुगीता पर्व के 16वें अध्याय से 19वें अध्याय तक चार अध्यायों में उपलब्ध है। इसकी श्लोक संख्या 189 है।

कुरुक्षेत्र में महान् युद्ध के पश्चात् जब पाण्डवों ने अपने राज्य का पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया, तब एक दिन पाण्डुनन्दन अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से विनयपूर्वक कहा—महाबाहो! कुरुक्षेत्र में संग्राम के समय मुझे आपके ईश्वरीय स्वरूप का दर्शन हुआ था। केशव! आपने कृपा करके मुझे जो ज्ञानोपदेश दिया था, वह मुझे विस्मृत हो गया है। उस उपदेश को सुनने के लिए मेरा मन बार-बार उत्कण्ठित होता है। अब आप शीघ्र ही द्वारका जाने वाले हैं। अत: कृपा करके उस ज्ञान का मुझे पुन: उपदेश कर दीजिए।

पार्थ की बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—उस समय मैंने जिस गोपनीय आत्मस्वरूपभूत, सनातन पुरुषोत्तम तत्त्व का परिचय दिया था, उसे तुमने अज्ञानवश याद नहीं रखा, यह मुझे बहुत अप्रिय है। उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्व का वर्णन किया था। धनञ्जय! अब मैं उस उपदेश को ज्यों-का-त्यों नहीं बता सकता। अब उस विषय का ज्ञान कराने के लिए मैं एक प्राचीन इतिहास बताता हूँ।

एक दिन परम तपस्वी एक ब्राह्मण ब्रह्मलोक से उतरकर स्वर्गलोक में होते हुए मेरे यहाँ पधारे। समुचित आदर-सत्कार के पश्चात् मैंने उनसे मोक्ष धर्म विषयक प्रश्न किया। उन्होंने जो उत्तर दिया, वही मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

उन ब्राह्मण ने कहा—प्राचीनकाल में काश्यप नामक धर्मज्ञ ब्राह्मण किसी सिद्ध महर्षि के पास गए। वे महर्षि सिद्ध अनेक रहस्यों और शक्तियों से सम्पन्न होने पर भी सर्वत्र अनासक्त भाव से विचरण करते थे। मुनि काश्यप उनकी महिमा के सम्बन्ध में जानकर उनके पास गए। उन अद्‌भुत महर्षि सिद्ध के प्रति काश्यपजी का गुरु भाव उत्पन्न हो गया और वे उनकी सेवा में पूर्ण रूप से लग गए। शिष्य काश्यप की सेवा से संतुष्ट होकर उन सिद्ध महर्षि ने उन्हें जो ज्ञानोपदेश दिया, उसे मैं सुनाता हूँ।

सिद्ध महर्षि ने कहा—तात काश्यप! मनुष्य नाना प्रकार के शुभ कार्य करके पुण्य के संयोग से इस लोक में उत्तम फल और देवलोक में स्थान पाता है। मैंने स्वयं अनेक बार पाप करके अधर्म गतियों को भोगा है। कितने ही जन्म-मरण, संयोग-वियोग के सुख-दु:खों का अनुभव किया है।

बार-बार अनेक क्लेशों का अनुभव करके एक दिन मैंने निराकार, परमात्मा की शरण ली तथा समस्त लोकव्यवहार का परित्याग कर दिया। द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार मुझे यह उत्तम सिद्धि मिली है। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुमने मुझे जान लिया है। अब जो प्रश्न तुम करोगे, मैं उनका समाधान करूँगा।

इसके बाद तपस्वी काश्यप ने सिद्ध महर्षि से अनेक प्रश्न पूछे। काश्यप ने पूछा—महात्मन्! यह शरीर किस प्रकार गिर जाता है और फिर किस प्रकार दूसरा शरीर प्राप्त होता है? संसारी जीव किस प्रकार मुक्त होता है? जीवात्मा प्रकृति और उससे उत्पन्न शरीर कैसे त्यागता है? और शरीर से छूटकर कैसे दूसरे में प्रवेश करता है? मनुष्य अपने कर्मों का फल कैसे भोगता है? शरीर न रहने पर उसके कर्म कहाँ रहते हैं?

सिद्ध ने कहा—काश्यप! मनुष्य इस लोक में जो शुभ कर्म करता है, वह शरीर-प्राप्ति में कारण होते हैं। शरीर ग्रहण के पश्चात् जब वे कर्म फल देकर क्षीण हो जाते हैं, उस समय जीव की आयु का भी क्षय हो जाता है। उस अवस्था में वह विपरीत कर्मों का सेवन करने लगता है तथा विनाशकाल आने पर उसकी बुद्धि उलटी हो जाती है। विपरीत बुद्धि हो जाने में जो अत्यन्त हानिकारक कर्म वह करता है, उनसे जीव का शरीर नष्ट हो जाता है। द्विजश्रेष्ठ! जन्म और मृत्यु के समय जीव का तन-मन वेदना से व्यथित होता है।

शास्त्र के अनुसार जीव के तीन स्थान देखे गए हैं—मर्त्यलोक, स्वर्गलोक और नरक। मर्त्यलोक ही कर्मभूमि है। यहाँ शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप अच्छे-बुरे भोग प्राप्त होते हैं।

यही पाप करने वाले मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार नरक में घोर कष्ट भोगते हैं। पुण्य कर्म करने वाले प्राणी स्वर्ग आदि ऊर्ध्वलोकों में जाते हैं।

इसके बाद सिद्ध महात्मा ने जीव के गर्भ-प्रवेश, आचार-धर्म, कर्म फल की अनिवार्यता तथा संसार से तरने के लिए सद्गुणों आदि का विस्तार से वर्णन किया है।

अन्त में सिद्ध महात्मा मोक्ष प्राप्ति के उपाय का वर्णन करते हुए कहते हैं—काश्यप! जो पुरुष स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों में से क्रमश: पूर्व-पूर्व का अभिमान त्यागकर कुछ भी चिन्तन नहीं करता और मौन भाव से रहकर सबके एकमात्र अधिष्ठान परमात्मा में लीन रहता है, वही संसार बन्धन से मुक्त होता है। समत्व

भाव सम्पन्न, अनासक्त, सब प्राणियों को आत्मवत् देखने वाला, निरभिमानी, परहित रत, जितेन्द्रिय आदि गुण सम्पन्न व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

इस वार्तालाप का इतिहास बताकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन! मोक्ष धर्म के विषय में यह प्रसङ्ग सुनाकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गए।

पार्थ! युद्ध के समय भी तुमने रथ पर बैठे हुए इसी तत्त्व को सुना था—कुन्तीनन्दन! जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, वही इसे जान सकता है।

पार्थ! जो सनातन ब्रह्म है, वही जीव की परमगति है। ज्ञानी मनुष्य देह को त्यागकर उस ब्रह्म में ही अमृतत्त्व को प्राप्त होता है और सदा के लिए सुखी हो जाता है—

परा हि सा गतिः पार्थ यद् तद् ब्रह्मसनातनम्।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी।। — काश्यपगीता, 4.6

इस प्रकार काश्यपगीता का मुख्य प्रतिपाद्य मोक्षधर्म का उपदेश करना है।

सहायक आचार्य (GF), दर्शनशास्त्र विभाग,
राजकीय पी.जी. महाविद्यालय,
बाडमेर।
आवास— 1208 बरकत नगर, टौंक फाटक,
जयपुर-302015
दूरभाष : 9782432200

वेदान्तशास्त्र की वेदमूलकता

डॉ. सुजाता पटेल

प्राचीनकाल से ही यह भारत भूमि चिन्तन प्रधान भूमि के रूप में प्रसिद्ध रही है। ब्रह्मा से लेकर सामान्यजन पर्यन्त यहाँ चिन्तन का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। यहाँ की इसी चिन्तन परम्परा का यह परिणाम है कि कभी यह भारत देश सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व करने वाले विश्वगुरु के पद पर विराजमान था तथा इसी चिन्तन की बाहुल्यता के कारण इस एक देश में ही नव दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। ये नव दर्शन मात्र प्रादुर्भूत ही नहीं हुए अपितु ये आज भी स्वच्छन्द रूप से विचरण करते हुए जीवित हैं। इन नव दर्शनों को भी स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है, आस्तिक-दर्शन और नास्तिक-दर्शन। सामान्यतया आस्तिक-दर्शनों के अन्तर्गत छः दर्शन प्रसिद्ध हैं जो वेदमूलक दर्शन कहे जाते हैं और वे हैं—सांख्य योग-न्याय-वैशेषिक-पूर्वमीमांसा-उत्तर मीमांसा या वेदान्त। इसी प्रकार चार्वाक-जैन-बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शन के रूप में परिगणित हैं।

यद्यपि सभी आस्तिक दर्शन वेद और उपनिषद् पर ही आधारित हैं किन्तु इनमें भी पूर्व मीमांसा तथा वेदान्त वैदिक संस्कृति की ही देन है क्योंकि मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड पर आधारित है और वेदान्त वैदिक ज्ञानकाण्ड पर। अतः वेदान्त शास्त्र का मूल वेद ही है। वेदान्त शास्त्र की वेद मूलकता तो वेदान्त शब्द से भी स्पष्ट हो जाती है। "यह वेदान्त शब्द दो शब्दों के योग से बना है वेद+अन्त जिसका अर्थ है वेदों का अन्त। पहले वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों के लिए किया जाता था क्योंकि ये वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग हैं। जब उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक विचारों का अवलोकन हुआ तो उपनिषदों के दार्शनिक विचार के लिए वेदान्त शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। अतः अब वेदान्त से अभिप्राय है औपनिषदीय दर्शन की धाराएँ।"[1]

"वेदभाग होने से वेदान्त को श्रुति ही समझना चाहिए। वेदान्त, श्रुति और उपनिषद् एकार्थक हैं। उपनिषदों में प्रायः वेदान्त शब्द का प्रयोग इसी प्रयोजन से किया गया हैं। श्वेताश्वतर, मुण्डक आदि उपनिषदों और शंकराचार्य के अनुसार वेदान्त का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। यहाँ अन्त शब्द का अर्थ क्रमशः 'तात्पर्य' 'सिद्धान्त तथा आन्तरिक अभिप्राय' अथवा मन्तव्य भी किया गया है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी अन्त शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। वेद या ज्ञान का अन्त ब्रह्म ज्ञान से लिया जाता है। जो भी विश्व में दृष्टिगोचर हो रहा है वह तथा इस सम्पूर्ण विश्व की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं है। मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति, ब्रह्ममयता या ब्रह्मस्वरूपता प्राप्ति है। यही वेद का अन्तिम, मौलिक तथा सर्वोच्च सर्वमान्य

सिद्धान्त है जो वेदान्त शब्द का मूलाधार है। इसमें वेद के परिपक्व विचार हैं।"[2] अतः वेदान्त शब्द से भी वेदान्तशास्त्र की वेदमूलकता स्पष्ट होती है।

यद्यपि सभी दर्शनों ने अपना वर्ण्य–विषय उपनिषदों में ही खोजा है उपनिषद् ही प्रायः प्रत्येक दर्शन का उद्गम स्थल रहे हैं किन्तु वेदान्त का सम्पूर्ण कलेवर ही उपनिषद् है। डॉ. हरिदत्त शास्त्री ने वेदान्त को उपनिषद् के सुपुत्र की उपमा दी है। पिता–पुत्र के पारस्परिक अन्तर के समान ही उपनिषद् और वेदान्त में भी स्वल्प विभेद है।[3] उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है अध्यात्मविषयक गम्भीर विवेचन। श्रुतियों का चरम सिद्धान्त भी इसे ही माना गया है। विषयवस्तु की दृष्टि से ऋक्, यजुः. साम और अथर्व ये चारों कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन खण्डों में विभक्त है तथा इनके परिचायक क्रमशः संहिता, आरण्यक और ब्राह्मण हैं। आरण्यक साहित्य में ही उपनिषदों की गणना होती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपनिषद् वेदान्त हैं और ये उपनिषद् अनेक हैं। इन उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय तो एक ही है किन्तु प्रतिपाद्य विषय की व्याख्यात्मक शैली में भिन्नता है। अतः उपनिषदों में जो सिद्धान्त यत्र–तत्र असम्बद्ध अवस्था में प्राप्त होते हैं तथा जो तर्क की कसौटी पर कसे नहीं गये हैं, उन्हीं सिद्धान्तों को वेदान्त में सुसम्बद्ध क्रम में तथा तर्क की कसौटी पर कसा गया है—

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।
वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते।।[4]

इसके अतिरिक्त वेदान्त दर्शन औपनिषद दर्शन ही है। इस संदर्भ में स्वयं सदानन्द योगीन्द्र जी ने भी लिखा है—"वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।"[5] वेदान्तशास्त्र का मुख्य विवेचनीय तत्त्व ब्रह्म है। यह ब्रह्म शब्द प्रारम्भ में वेदों के सूत्रों तथा स्तुतियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य शंकर ब्रह्म शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करते हैं—मुख्य और गौण। ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ निरपेक्ष सत्य है। यह सत् निर्गुण और अनिवर्चनीय है। गौण अर्थ में इसका प्रयोग ईश्वरीय शक्ति के लिए होता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म का दो भेद निर्गुण एवं सगुण औपनिषदीय परम्परा का अनुगमन करते हुए ही किया है जो उपनिषदों में इस प्रकार परिभाषित है—**"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"**[6] तथा **"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"**[7] यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। यही ब्रह्म सगुण–निर्गुण भेद से प्रतिपादित है।

जीव वेदान्त शास्त्र की दूसरी महत्त्वपूर्ण सत्ता है। वेदान्तशास्त्र में उल्लिखित है कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है– **"जीव ब्रह्मैव नापरः"**। ईश्वर के समान जीव का भी यथार्थ रूप ब्रह्म ही है। ईश्वर और जीव दोनों ही चैतन्य स्वरूप हैं। जीव तथा ईश्वर दोनों ही ब्रह्म के प्रतिबिम्ब हैं। शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, जो कुछ भी भेद प्रतीत होता है वह व्यावहारिक भेद है। आचार्य शंकर ने जीव और ब्रह्म की इस एकता का प्रतिपादन **'अहं ब्रह्मास्मि'**[8] **'अयमात्मा ब्रह्म'**[9] **'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'**[10] इन्हीं वाक्यों के आधार पर किया है।

'आत्मा' अद्वैतवेदान्त का अतिमहत्त्वपूर्ण वर्ण्य विषय है क्योंकि आत्मतत्त्व के ज्ञान से ही परब्रह्म परमात्मा को जाना जा सकता है। इस आत्म तत्त्व का ज्ञान कैसे हो इस संदर्भ में उपनिषद् में बताया गया है कि इस आत्मतत्त्व के ज्ञान का कोई अन्य मार्ग नहीं है। इसका ज्ञान केवल उसे ही होता है जिसे यह आत्मतत्त्व अपनाता है, केवल उसी के सम्मुख यह अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य–
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।[11]

इसी प्रकार आचार्य शंकर ने भी कहा है कि आत्मा स्वयं सिद्ध ही है। यह कोई बाह्य वस्तु नहीं है। इसे प्रमाणों एवं तर्कों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता—**"आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिद्धयति।"**[12]

अद्वैत वेदान्त का सार श्लोकार्ध में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं—**"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।"** ब्रह्म और आत्मा एक हैं, दोनों परम तत्त्व के पर्याय हैं। जगत्-प्रपञ्च माया की प्रतीति है। आचार्य शंकर के दर्शन में ये माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, भ्रम इत्यादि समानार्थक हैं। शंकराचार्य के अनुसार यह माया परमेश्वर की बीज शक्ति है। यह माया परमेश्वर की आश्रित सुप्तिरूपिणी है जिसमें संसार अपने सच्चे स्वरूप से अनवगत होकर खोया रहता है

"अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।"[13] इसी माया अथवा अज्ञान का निर्वचन करते हुए सदानन्द जी ने लिखा है कि यह अज्ञान न तो सत् है न असत् है, यह अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक ज्ञान विरोधि तथा भाव रूप है। सदानन्द जी के अज्ञान निरूपण के मूल में अवश्य ही *तैत्तिरीयोपनिषद्* का यह मंत्र है जिसमें बताया गया है कि यह माया न सत् है, न असत् और न ही उभय रूप है, बल्कि यह सदसद् इन दोनों रूपों से भिन्न विलक्षण और अनिर्वचनीय है।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसदुभयमनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी।[14]

अतः इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेदों का उपाङ्गभूत यह वेदान्तशास्त्र औपनिषदीय दर्शन होने के कारण वेदमूलक शास्त्र है।

संदर्भ

1. डॉ. शिव स्वरूप सहाय, *प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन*, पृ. 268
2. डॉ. शिव स्वरूप सहाय, *प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन*, पृ. 268
3. डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी, *वेदान्तसार*, पृ. 4
4. *ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य।*
5. *वेदान्तसार।*
6. *तैत्तिरीयोपनिषद्* 2.1.11
7. *वृहदारण्यकोपनिषद्* 3.9.28
8. *वृहदारण्यकोपनिषद्* 1.4.10
9. *वृहदारण्यकोपनिषद्* 6.8.7
10. *छान्दोग्योपनिषद्* -6.8.7
11. *कठोपनिषद्* 1.2.23
12. *शाङ्करभाष्य*
13. *शाङ्करभाष्य*
14. *तैत्तिरीयोपनिषद्।*

प्रवक्ता,
संस्कृत विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कालेज,
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)-221001
चलवाणी-8299070742

आगमेषु प्रतिमाविज्ञानं मूर्तिकला च

प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेयः

आगमेषु भगवदाराधनार्थं कुम्भे, मण्डले, अग्नौ तथा मन्दिरे प्रतिष्ठापितविग्रहाः चत्वारि मान्यस्थानानि सन्ति। एतेषु त्रयो विषयाः मूर्तेराराधनागमशास्त्राणां विद्यते। वैखानससम्प्रदायानुसारं भगवदाराधनस्य कृते त्रयो मार्गाः प्रतिपादिताः सन्ति—1. मानसीपूजा, 2. होमपूजा, 3. प्रतिमापूजा च। हृदि निरन्तरं जगदीशस्य ध्यानार्चनं मानसपूजा। मानसपूजायाः अपरनाम अन्तर्यागो विद्यते। अग्निमण्डले शुभप्रभायाः जनार्दनस्य ध्यानं कृत्वा हविषः प्रदानमेव होमपूजा विद्यते। विष्णुप्रतिमां देवागारे संस्थाप्य भक्तिपूर्वकं नित्याराधनमेव बेरपूजनं कथितं विद्यते। विष्णुप्रतिमां देवागारे संस्थाप्य भक्तिपूर्वकं नित्याराधनमेव बेरपूजनं कथितं विद्यते। अस्यापरनामबहिर्यागोऽपि विद्यते। एतेषु त्रिष्वपि बेरपूजनस्य विधिर्वर्तते। प्रीतेर्भक्तिर्भवति, भक्तेर्हरिः सुलभो विद्यते।[1] भगवदाराधनस्य रूपद्वयं (साकारः निराकारश्च) विद्यते।[2] अग्न्याधानन्तु आहताग्निपुरुषविशेषस्य मृत्योरन्तरम् समाप्तो भवति, परन्तु बेरार्चनप्रक्रियया समाराधनम् अनन्तं कालं यावत् प्रचलति। पूजेयं भक्तिपूर्वकं करणीयम्। भगवदाराधनायाः कृते मूर्तिपूजनं सर्वोत्तमं विद्यते। प्रतिमानिर्माणं प्रत्यक्षरूपेण शिल्पशास्त्रीयविषयो विद्यते। शिल्पादेव प्रतिमायाः प्रादुर्भावो भवति। उक्तञ्च—

विज्ञानं शिल्पकौशल्यम्। जगत् सर्वं शिल्पमेव भवति।
शिल्पात् प्रतिमा जायन्ते।[3]

प्रतिमायाः बिम्बं, कौतुकः, बेरः, समानार्थाः, शब्दाः सन्ति। कौतुकस्थानेके पर्यायाः सन्ति। अर्चा च कौतुकं प्राणो बेर एकार्थवाचकाः। स्पष्टो वर्तते यत् अर्चा, कौतुकः, प्राणः, बेरः, च एकस्यैवार्था प्रदायकाः सन्ति। अर्च्यत्वाज्जल- पुष्पाद्यैः कीर्तिताऽर्चेति सूरिभिः। सर्वेषां प्राणभूतत्वात् प्राण इत्युच्यते बुधैः। श्रीभूदेव्योर्वरत्वाच्च वर इत्यपि कीर्तितः।

2. प्रतिमाभेदः—विविधाराधनानुसारं प्रतिमायाः विविधभेदाः प्रतिपादिताः सन्ति। देवालये चलप्रतिमायाः अचलप्रतिमायाश्च समाराधनं निर्दिष्टं विद्यते। चलस्य नाम जङ्गमा अचलस्य स्थावरा विद्यते। एकतः अपरं स्थानं नीयते चेत् तस्य नाम जङ्गमो बिम्बो वर्तते। अचलबिम्बो ध्रुवबेरेण निर्दिष्टो विद्यते। प्रतिमायाः समुपयुक्तविभाजनं पाञ्चरात्रागमस्य शिल्पशास्त्रस्यापि मान्यता वर्तते। बहुबेरार्चनक्रमे वैखानसागमानुसारम् एकस्याधिकस्य बेरविधानं दृश्यते। यथा—1. ध्रुवबेरः, 2. कौतुकबेरः, 3. बलिबेरः,

4. उत्सवबेर:, 5. स्नपनबेरश्च। ध्रुवबेरस्य तात्पर्योऽयं विद्यते। कौतुकबेरस्योपयोगनित्याराधनाय क्रियते। अस्यापि चलाचलरूपेण भेदद्वयं प्रतिपादितम्। अस्य स्थापनं कौतुकबेरस्य उत्तरभागे दक्षिणभागे च भवति। अस्य निर्माणं दारुणा शिलया च न भवति। बले: इत्यस्य तात्पर्योऽयं विद्यते यत् पशुहिंसनं न अपितु अन्ननिर्मितमेव विद्यते। उत्सवबेरस्य बोध: प्रतिमाविशेषेण विद्यते, यस्योपयोगो नित्यनैमित्तिक-उत्सवेषु क्रियते। अस्य शान्तिक-नैमित्तिक-उत्सवाङ्ग-नित्यार्चनायाम् समुपयोग: क्रियते।[4] प्रतिमानिर्माणदृष्टौ ध्रुवबेरस्य स्वरूपत्रयं विद्यते—1. चित्रम्, 2. चित्रार्धम्, 3. चित्राभासश्च। सर्वेषां पृथक्-पृथक् लक्षणानि निर्दिष्टानि। मनोन्मानप्रमाणयुक्त एव चित्रबेरो विद्यते। यस्याङ्गानि अर्धरूपेण दृष्टिगोचराणि भवन्ति, तस्य नाम अर्धचित्रबेरो विद्यते। पट-कुड्यादि: चित्राभासस्य अपरनामास्ति। भेदोऽयं पाञ्चरात्रागमस्यापि समभीष्टो विद्यते। क्रमश:—उत्तम:, मध्यम:, अधमश्च वर्तन्ते।[5] चलाचलरूपेण चित्राभासस्य भेदद्वयं विद्यते। पटादौ लिखितं चित्रं चलं तथा भित्तादौ लिखितं चित्रम् अचलञ्च विद्यते। चित्रबेरस्य फलं ऐहिकम् आमुष्मिकञ्च विद्यते। चित्राभासस्य समर्चनं ऐहिकफलदात्रं विद्यते। समूर्तार्चनाधिकरणे चित्राभासबेरस्य समर्थनस्य निषिद्धं कृतं विद्यते।[6]

अवस्थिते: आधारानुसारं ध्रुवबेरस्य भेदत्रयं विद्यते।

1. स्थानक:, 2. आसीन:, 3. शयान: च। पाञ्चरात्रागमे एतदतिरिक्त: समुल्लेखो विद्यते। अर्चनाधिकारे स्थानकं सात्विकरूपेण, आसीनं राजसरूपेण, शयानं तामसरूपेण प्रतिपादितम्। अविनाशनं मोक्षार्थिभि: शयानं बिम्बस्य समर्चनं निर्देशो विद्यते। ध्रुवबेरवत् कौतुकबिम्बस्य परिकल्पनं विद्यते। किन्तु शयानकौतुक-बिम्बस्य निषेधो विद्यते। ध्रुवबेरस्य चत्वारो भेदा: सन्ति—1. योग:, 2. भोग:, 3. वीर:, 4. विरहश्च। योगकामिने योगबेर:, भोगार्थिने भोगबेर:, वीर्यार्थिने वीरबेर:, विरहार्थिने विरहबेर: च एतेषां समर्थनं विधानं विद्यते।[7] विमानार्चनकल्पे विरहस्थाने आभिचारिकबेरस्य कल्पना कृता विद्यते। अर्चनाधिकारे मोक्षार्थिने विरहबेरस्य निर्देशो विद्यते। शास्त्रेषु अभिचारिकस्य विरहबेरस्य वा वर्णनं न विद्यते। स्थानकं, आसीनं, शयानं एते त्रयो बेरस्य विद्यते। ज्ञानकाण्डे बेरस्य चत्वारो भेदा: प्रदर्शिता:। स्थापन-स्थान परिवारदेवतानां न्यूनाधिक्यं स्वीकृत्य प्रतिमानां भेदा: वर्णिता:।[8] योगस्थानध्रुवबेरस्य उत्तममध्यमा-धमभेदेन भेदत्रयं वर्णितम्। ध्रुवबेरस्य भुजाद्वयं भुजाचतुश्च प्रतिपादितम्। विरहबेरस्य सायुधेन निरायुधेन उभयभेदो विद्यते। विरहस्थानकस्वरूपं द्विभुज-धूम्राम्बरयुक्त-श्यामवर्ण-शुक्लाङ्ग-ऊर्ध्वदृष्टि-तमोगुणसम्पन्न-विमलनयन-ब्रह्मादिपरिवारेण च रहितं भवति। भोगासनं ध्रुवबेरस्य उत्तम-मध्यम-अधमेन भेदत्रयं विद्यते। वीरासनं ध्रुवबेरस्य श्रेष्ठ-मध्यम-अधमरूपेण सप्रमाणं भेदत्रयं प्रतिपादितम्। मूर्तिनिर्माणविषये पाञ्चरात्रागमग्रन्थै: सप्रमाणं अङ्गै: उपाङ्गैश्च सह प्रतिपादितं (निर्देशितञ्च) विद्यते।[9] इदं विवेचनम् अतीव सूक्ष्मं विद्यते। ध्रुवबेरस्य अवयवसंख्या 473 प्रतिपादितम्।[10] मत्स्यकूर्मवराहवामनादि-अवताराणां प्रतिमानां निर्माणं कौतुकबेरान्तर्गतो विद्यते। तथा तद् चतुर्भुजरूपेण स्वीकृतम्।[11]

भगवत: पार्षदानां भृगो: मार्कण्डेयस्य, ब्रह्मण:, शङ्करस्य, श्रीदेव्या:, भूदेव्या: प्रतिमास्वरूपं वर्णितं विद्यते। ध्रुवबेरस्थानके विद्यमाने सति परिवारबेरोऽपि समुपतिष्ठति। विष्वक्सेन:, विघ्नेश:, रोहिणी माता, ज्येष्ठा, सरस्वती च परिवारबेरस्य आसीनरूपेण स्वीकृतम्।[13]

मत्स्यमूर्ति:—मत्स्यमूर्त्तिप्रतिष्ठाविषये वर्णनं कृतं वर्तते यत्—वैराग्यस्य, ऐश्वर्यस्य, अभ्युदयस्य प्रतिष्ठाया: समुल्लेखनं भवति। तदनन्तरं मत्स्यस्य कूर्मस्य समर्थनं कर्तव्यम्।

कूर्ममूर्ति:—कूर्ममूर्ते: रूपद्वयं विद्यते—

स्वस्थानाच्चलितजगदण्डरक्षणार्थं प्रथम:।
अमृतमथने मन्दाचलभरणार्थं द्वितीय:।।[14]

कूर्मध्रुवबेराय फेलाकारविमानस्य विशेषरूपेण विधानमस्ति।[15]

वराहमूर्ति:—''राजराष्ट्रविवृद्धये वराहम्'' ''राज्यस्य वर्द्धनार्थं वराहमूर्ति: स्थापनीया।"[16] वराहस्य स्थापनाहेतो विमानविशेषसर्वतोभद्र:, अङ्गनाकार:, सोमच्छन्दसाश्च समुल्लेखो विद्यते।[17] प्रकीर्णाधिकारे पर्वताकारं श्रीप्रतिष्ठितं विमानं विहितमस्ति।[18] वैखानसे वराहस्य रूपत्रयं—1. आदिवराह:, 2. प्रलयवराह:, 3. यज्ञवराहश्च विहितम्।[19]

नृसिंहमूर्ति:—नृसिंहमूर्तिरूपं वैखानसागमग्रन्थेषु विद्यते।[20] क्रियाधिकारे नृसिंहस्य पञ्च रूपाणि सन्ति। प्रकीर्णाधिकारे—1. स्थित:, 2. आसीन:, 3. सुदर्शननृसिंह:, 4. लक्ष्मीनृसिंह:, 5. पातालनृसिंह:, 6. पुच्छनृसिंहश्च वर्तन्ते।[21] क्रियाधिकारे लिखितमस्ति यत् **''नारसिंहविकल्पाश्च बहुधा परिकीर्तिता:।''**[22]

सपरिवारगिरिजनरसिंह-बेरलक्षणम्, सपरिवारलक्ष्मीनृसिंहध्रुवबेरस्वरूपम्, सपरिवारपातालनृसिंह-ध्रुवबेरस्वरूपम्, पुच्छनृसिंहध्रुवबेरलक्षणम्, यानकनृसिंहध्रुवबेरस्वरूपं पृथक्-पृथक् वर्णितं विद्यते।[23] नृसिंहस्य कर्मार्चादि बेरस्वरूपं प्रतिपादितं विद्यते।[24]

वामनमूर्ति:—विमानार्चनकल्पस्य पञ्चम-अवतारमूर्तिमानस्य प्रतिमाकल्पन- पञ्चतालमानेन क्रियते। द्विबाहु:, छत्रदण्डधारी, कौपीनशिखाधारी, मेखला- सुशोभितयुक्तो, यज्ञोपवीतधारी, कृष्णाजिनधारी च स्वरूपं विद्यते।[25] प्रकीर्णाधिकारे वटुरूपधारी, दण्डकमण्डलु, भुजाद्वयसम्पन्न:, बालरूपयुक्तो वामनो विद्यते।[26] काश्यपज्ञानकाण्डे वामनस्य दक्षिणहस्ते दण्ड:, वामहस्ते छत्रञ्च वर्तते इति वर्णितम्।[27]

त्रिविक्रम:—वामनस्यैव प्रादुर्भावरूपं त्रिविक्रमो विद्यते इति कथनमसत्यं न विद्यते। पुराणानुसारं भगवान् श्रीवामनो बलिं याचते पादत्रयं वसुधाम्। परन्तु तस्य मापनाय शरीरं विशालं कृतम्। तेनैव विशालपादेन पृथिवी, स्वर्ग:, तस्य कायश्च मापिता:। वैखानसागमानुसारं त्रिविक्रमो भगवतो विष्णोरवतारेषु अन्यतमो विद्यते। पादन्यासभेदेन त्रिविक्रमप्रतिमाया रूपत्रयं स्वीकृतम्-त्रिविक्रमास्त्रिधा प्रोक्तो लोकेषु

त्रिपादन्यासात्। भूलोकाक्रमणार्थं जानुमात्रम्, अन्तरिक्षलोकाक्रमणार्थं नाभिमात्रम्, स्वर्गलोकक्रमणार्थं ललाटमात्रं च ऊर्ध्वपादो भवेत्।[28]

परशुराम:—परशुराम: ध्रुवबेरस्य प्रतिष्ठाया: धर्मवृद्धये तथा सुखाकांक्षायै च वर्तते।[29] देवालय: समुद्रनदीसरोवरस्य तटे भवेत्।[30] परशुराम: रक्तवर्णेन, द्विभुजेन, जटामुकुटभूषितेन, नीलाम्बरधरेण, वीरासनेन शोभितो विद्यते। दक्षिणहस्ते परशुर्वर्तते।[31]

राम:—रामस्य प्रतिमाद्वयं वर्णितं—सायुध: निरायुधश्च।[32] द्विबाहुयुक्त:, श्यामवर्ण:, धनुर्धारी, त्रिभङ्गी, च स्वरूपं वर्णितं विद्यते। मुकुटादिभूषितं, पीताम्बरधारितं, हस्ते धनुर्धारितं विद्यते। वामभागे लक्ष्मणो दक्षिणभागे जननी माता सीता च वर्तते। हेमवर्णा, पद्मनेत्रा, शुकपिच्छनिभाम्बरा, सीता तथा धनुर्धारीरूपं लक्ष्मणो विद्यते। हनुमान् अञ्जनवर्ण: रक्तमुख:, श्वेतवस्त्रधारी च विद्यते।[33]

बलराम:—बलरामावतारस्योद्देश्यं भूमौ दैत्यवधार्थं विद्यते।[34] यस्य सार्वभौम- साम्राज्यस्य कामना विद्यते, तेन बलराममूर्ते: संस्थापनं कर्तव्यम्।[35] बलरामस्य विग्रहो निम्नवत् विद्यते—

वामपादं समाकुञ्च्य दक्षिणं सम्प्रसार्य च।
सव्यं चाभयहस्तं तु वाममूरुनिवेशितम्।।
रेवतीं दक्षिणे पार्श्वे नीलोत्पलदलप्रभाम्।
पद्मं दक्षिणहस्तेन गृहीत्वाऽन्यं तथैव च।।
ऊरौ निवेश्य चासीनां रेवतीं च प्रकल्पयेत्।
सर्वाभरणसंयुक्तं देवं देवीसमन्वितम्।।[36]

कृष्णमूर्ति:—विष्णो: प्रसिद्धोऽवतारो विद्यते कृष्णमूर्ति:। कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् इति *श्रीमद्भागवते* वर्णितं विद्यते।[37] भगवान् श्रीकृष्ण: पीताम्बरधारी विद्यते। हस्ते वेणुरपि विद्यते। पूर्णेन्दुचन्द्रसदृशो मुखं विद्यते। गोपालगोपवेषधारी वंशहस्त-अष्टतालसमायुक्तो भवेत्। वासाधिकारे सपरिवारकृष्णध्रुवबेरो निम्नैर्विद्यते—

कृष्णस्य ध्रुवबेरं तु देव्याश्च सहितं क्रमात्।
उक्तं ध्रुवस्य मानेन कुर्यात् कृष्णं विधानत:।।
लीलायष्टिधरं देवं वामे नासाङ्कर्पूरम्।
सर्वाभूषणसंयुक्तं ब्रह्मसूत्रसमन्वितम्।।
रक्ताम्बरधरं चैव श्यामलं कमलेक्षणम्।

कल्किमूर्ति:—विष्णो: अन्तिमावतार: कल्किरूपं विद्यते। कल्किविग्रहप्रतिष्ठायोद्देश्य: ''पापौघविघ्नाय कल्किणं पूजयेदिति विज्ञायते—ज्ञानकाण्डे निर्दिष्टो विद्यते।[38] कल्किध्रुवबेरस्य स्थापना पर्वताकृति: गोपुरोऽथवा कूटागारदेवालये विधानमस्ति।[39] चतुर्भुजकल्किमूर्ति: नराकृतौ कल्पितो विद्यते।[40]

उत्सवस्नपनबिम्बो विष्णुसदृशो स्वीकृतो विद्यते।[41] पाञ्चरात्रसंहितायामपि कल्किमूर्ते: कल्पना नैकेषु रूपेषु कल्पिता सन्ति।[42]

चतुर्विंशति-अवताराः—दशावतारानन्तरं वैखानसागमग्रन्थै: केशवादिचतुर्विंश ध्रुवबेरस्य कल्पनाया: निर्देशनं प्रदर्शितम्। केशवादिमूर्तीनां देवालयो विष्णुविमानसदृशा: भवन्ति।[43]

एतावता संक्षेपेण आगमेषु प्रतिमाविज्ञानस्य मूर्तिकलायाश्च वर्णनं संप्राप्यते।

संदर्भा:

1. *क्रियाधिकार*: 1/12-14
2. *समूर्तार्चनाधिकरणम्* 1/28, 27/1, ज्ञानकाण्डम् अध्याय 1, यज्ञाधिकार: 1/10
3. *आगमसुषमा*, पृ0 266
4. *क्रियाधिकार*: 14, खिलाधिकार: 8/15
5. *समूर्तार्चनाधिकरणम्* 18/13-14
6. तत्रैव 18/14
7. *क्रियाधिकार*: 5/75
8. *यज्ञाधिकार*: 15/37-38
9. क. *विमानार्चनकल्पः*, पटल: 22-23, ख. *जयाख्यसंहिता* 20/9-66, ग. *भार्गवतन्त्रम्* 4/9-94, घ. *सात्वतसंहिता* 24/91-180. ङ. *विश्वामित्रसंहिता* 22/61-67
10. प्रदेशसंग्रहाद ज्ञेय: चतु:शतं त्रिसप्तति:। व्याख्यातमानुपूर्व्येण विज्ञेयं शास्त्रकोविदै:। - *खिलाधिकार*: 14/249
11. क. *प्रकीर्णाधिकार*: 16/118-191, ख. *समूर्त्तार्चनाधिकरणम्* 24/30
12. *क्रियाधिकार*: 5, *विमानार्चनकल्पः*, पटल: 20, *खिलाधिकार*: 15
13. *ज्ञानकाण्डम्* 37/79
14. क. *ज्ञानकाण्डम्* 79, ख. *क्रियाधिकार*: 11/9-10
15. *वासाधिकार*: 18
16. *ज्ञानकाण्डम्* 37
17. *ज्ञानकाण्डम्* 37
18. *प्रकीर्णाधिकार*: 13/26
19. क. *विमानार्चनकल्पः*, पटल:, 56, ख. *समूर्त्तार्चनाधिकरणम्* 58
20. *विमानार्चनकल्पः*, पटल: 56
21. क. *क्रियाधिकार*: 11/27-29, ख. *प्रकीर्णाधिकार*: 13/51-52
22. *क्रियाधिकार*: 11/58

23. *विमानार्चनकल्पः*, पटल: 57
24. *अर्चनाधिकारः* 13
25. *विमानार्चनकल्पः*, पटल: 57
26. *प्रकीर्णाधिकारः*. 17/19-20
27. *ज्ञानकाण्डम्* 82
28. *विमानार्चनकल्पः*, पटल:, 37
29. *ज्ञानकाण्डम्* 37
30. *वासाधिकारः* 21
31. क. *ज्ञानकाण्डम्* 83, ख. *समूर्त्तार्चनाधिकरणम्* 60/5-7
32. *ज्ञानकाण्डम्* 83
33. *खिलाधिकार*; 19/88-133
34. क. *ज्ञानकाण्डम्* 84, ख. *वासाधिकारः* 22
35. *ज्ञानकाण्डम्* 37
36. क. *क्रियाधिकारः* 11/102-105, ख. *समूर्त्तार्चनाधिकरणम्* 60/54-56
37. *श्रीमद्भागवत*
38. *ज्ञानकाण्डम्* 37
39. *प्रकीर्णाधिकारः* 16/103
40. क. *विमानार्चनकल्पः*, पटल: 59, ख. *प्रकीर्णाधिकारः* 16/104-106
41. *क्रियाधिकारः* 6/22
42. क. *मार्कण्डेयसंहिता* 8/67-70, ख. *नारदीयसंहिता* 13/303-305, ग. *पाद्मसंहिता, क्रियापाद* 18/45-46
43. *प्रकीर्णाधिकारः* 17/37

धर्मागमविभाग:,
संस्कृत विद्या-धर्मविज्ञानसंकाय
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय:,
वाराणसी-221005
चलवाण-9452823899

श्रीमद्भगवद्गीतायां योगप्रसङ्गः

डॉ. शान्तिगोपाल-दासः

विश्वस्य प्राचीनतमे *ऋग्वेदाख्ये* ग्रन्थे आपातदृष्ट्या बहुदेवतावादो निरूपितोऽपि प्रकृतप्रस्तावेनैकस्यैव देवतावादस्य सुनिश्चितैका प्रवणता समान्तरालरूपेण संलक्ष्यते। ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु बहुदेवतासु एकस्या एव शाश्वतसत्ताया अस्तित्वं स्पष्टतयैव समुल्लिखितमास्ते। तथा ह्याम्नातम् - ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्यैकस्मिन् मन्त्रे -'**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यं मातरिश्वानमाहुः**'[1] इति। एकामेव शाश्वतीं सत्ताम् ऋषयः अग्नि-यम-मातरिश्वादिभिर्नामभिराख्यातवन्तः। दशममण्डलस्यैकस्मिन्नेव मन्त्रे सममेव भावो दृक्पथम् आयाति - 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'[2] इति। अर्थाद् ऋषयश्चिन्तयामासुः एकामेव सत्तां बहुविचित्रितत्वेन। पुनः ऋग्वेदस्याष्टममण्डले समाम्नातम् - एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्। अर्थात् सैकैव सत्ता समस्तरूपाणि धारयति। निरुक्तकृता यास्काचार्य्येणोक्तम् - देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते इति। अर्थात् देवतानामेक एवात्मा। स चात्मा बहुरूपेण प्रकीर्तितः[3]। वस्तुतः साखण्डात्मिकी सत्ता वेदान्ते उपनिषत्सु च विविधदेवतानां माहात्म्यख्यापनेन परमात्मरूपेणोपवर्णिता। दशममण्डलगते पञ्चविंशत्युत्तरैकशतसंख्यके देवीसूक्ते परमात्मस्वरूपिण्यो वाचो माहात्म्यं संसूचितम् —अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहम् इति। अस्मिन् मन्त्रे मुख्यतः एकस्यैव परमसत्ताया नाम ब्रह्मणः उपलब्धिः प्रतिध्वन्यते। ब्रह्म परमात्मा वेति कृत्स्नस्य जगतो नियन्ता। ईशोपनिषदः आद्ये मन्त्रे आम्नायते — **ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्** इति। अर्थात् विश्वब्रह्माण्डस्य सर्वे विषयाः परमात्मनाच्छादिताः। निरुपाधिक-सोपाधिकभेदाद्ब्रह्मणो भावद्वयं मतम्। निरुपाधिकत्वेन ब्रह्म खलु सत्यं ज्ञानमानन्दस्वरूपकञ्चेति। परमात्मा खलु निश्चलो गतिहीनश्च। अपरतः सोपाधिकतया स वेगवान्। सर्वव्यापकत्वात् स दूरवर्त्यपि निकटवर्तीति। तथा हि समाम्नातम् -

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।[4]

स च परमात्मा विशुद्धोऽपापविद्धो ज्योतिर्मयश्चैतन्यस्वरूपश्च। स खलु क्रान्तदर्शी स्वयम्भूः। सर्वज्ञः सर्वकर्तव्यनियन्ता, सर्वेषां कर्मफलदाता चेति। आत्मस्वरूपे यथार्थतया समुपलब्धे सति आत्मविषयकमज्ञानं विदूरितं भवति। अज्ञाननाशे जीव-ब्रह्मणोरैक्यं संसूच्यते। एकमेकवाद्वितीयम् खलु आत्मचैतन्यं नाम ब्रह्मेति। आनन्दमय्याः सत्ताया अस्या उपलब्धौ जीवो दुःखमयाज्जीवनचक्राच्चिरमुक्तिं परिलभ्यानयानन्दमयसत्तया समं तादात्म्यतामनुभवति। तथा हि तैत्तिरीयोपनिषद्याम्नातम् - 'आनन्दो ब्रह्मेति आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रवन्त्यभिसंविशन्तीति'।[5] मुमुक्षोर्ब्रह्मतत्त्वानुसन्धित्सोर्वेति

यथार्थपन्थाः कस्तावत्? कं पन्थानमाश्रित्य स साधकः स्वलक्ष्यं प्राप्नुयात्? शास्त्रकृतां नये – स पन्थाः खलु योगः। मनसि प्रश्नो जायते – योगेनैव यदि ब्रह्मसायुज्यावाप्तिर्भवति तर्हि एतैर्ज्ञानैर्ग्रन्थैर्वा किं नाम प्रयोजनम्।

ननु कथमत्र योगस्वरूपविषयिणी विप्रतिपत्तिर्युज्यते, शास्त्रे योगादिस्वरूपस्य निर्णीतपूर्वत्वात् इति चेन्न। तथापि शास्त्रवचनेष्वेव बहुत्र योगस्वरूपं बहुधा प्रपञ्चितमिति तत एव उदेति विप्रतिपत्तिः। तथा हि **अथ योगानुशासनम्** (1/1) इत्यत्र योगपदम् भावव्युत्पत्त्या समाध्यर्थकम्, **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (1/2) इत्यत्र चित्तवृत्तिनिरोधपरम्, **तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः** (2/1) इत्यत्र तादृशनिरोधसाधनपरम्, स च योगः यमादिभेदवशादष्टाङ्ग इति कैश्चिदपि यमादिरपि योगभेदत्वेन योग एव उक्तः। अतः योगशब्दस्य नानात्र व्यवहारात् नानार्थत्वेन संशयः योगशब्दः वस्तुतः किमर्थकः? अत्रोच्यते योगशब्दः चित्तवृत्तिनिरोधार्थक एव। समाधिरिति व्युत्पत्त्यर्थः। न तावत् व्युत्पत्तिनिमित्तमेव पदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भवति। अन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। न हि गच्छतीति गौः भवति इति अन्यथा मनुष्यमात्रमपि गौः स्यात्। यश्च यमादिषु योगशब्दप्रयोगः स चापि उपचारेण बोध्य इति न क्वापि विप्रतिपत्तिः अप्रतिपत्तिश्च इति? अत्रोच्यते सत्यम् तथापि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इति लक्षणं यथार्थम्।

प्रथमत उल्लेख्यं यदत्र योगशब्दो न हि संकीर्णार्थकः। ननु योगशब्देन कोऽर्थः परामृश्यत इति चेदुच्यते मनोवाक्कर्मभिः सममात्मन एकत्वं तथा चात्मानुकूलगमनं हि योगः। मानवानां भौतिकशक्तिर्यदा आध्यात्मिक्या शक्त्या सार्धं सम्मिलितो भवति, तदा अनन्तशक्तेः रहस्यद्वारमुन्मोचितं भवति। एतदेव मिलनं तावद्योगः। पुनश्च मानवाः प्राचुर्य-सम्पत्ति-प्रतिपत्यादिवैषयिकीं प्रतिष्ठां लब्धापि सततं मनसा अशान्ताः दुःखिनो भयाक्रान्ताश्च दृश्यन्ते। तस्मादेव शक्तिममुमनुसन्धातुं तेऽधुना न यतन्ते। ते परमशान्तेः पन्थानुसन्धाने निरन्तरं कृतप्रयत्नाः संदृश्यन्ते। स च शान्तिमार्गस्तावद्योगः। *ऋग्वेदस्यैकस्मिन्* मन्त्रे साधारणार्थे योगशब्दः प्रयुक्तः दृश्यते-

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति।[6]

अर्थात् यस्माद् देवादृते ज्ञानिनो जीवनयज्ञः सफलतां नाप्नोति, तैर्ज्ञानिभिः बुद्धिकर्मणोर्योगः करणीयः। यजुर्वेदस्यैकादशाध्यायस्य प्रथमे मन्त्रपञ्चके योगस्य प्रधानानि लक्षणानि प्रदर्शितानि। *पातञ्जलयोगसूत्रे* योगसाधनायै हठयोग-प्राणायामादिभेदा अङ्गीकृताः। जैनशास्त्रे तपोभावनायोगयोर्ध्यानसाधनायाश्चोपरि गुरुत्वं प्रदीयते। बौद्धग्रन्थेष्वपि योगभित्तिरूपेण ध्यानस्य सर्वातिशायि गुरुत्वमभ्युपगतम्। जैनागमशास्त्रोक्तः ध्यात्मयोगस्तावद्गीतायामध्यात्मविद्याभिधया अभिहितः।

व्याकरणशास्त्रानुसारं युज्धातोरुत्तरं घञा योगशब्दः सिद्धः। युज्धातोः द्विविधार्थकः प्रयोगः सिद्धः – 'युज् समाधौ' 'युजिर्योगे' चेति। अर्थात् समाध्यर्थकस्तावत् युज्धातुः संयोगार्थकोऽपि। समार्धिनामात्मनो विक्षेपहीनायां समभावस्य परिणतिरूपायां समाहितावस्थायां चित्तस्य विशिष्टप्रकारकैकाग्रता। अर्थादेकाग्रता समाधिरिति। योगस्य सर्वाणि साधनानि निर्दिष्टानीति तात्पर्यं संयोगार्थकाद्योगशब्दाल्लभ्यते। संयोगार्थकोऽयं

योगशब्दः समाधिप्राप्तयेऽत्यावश्यकः। येन योगेनात्मा स्ववास्तविकं स्वरूपमुपलब्धुमलम्, स एव योगः। येन चात्मा स्वकपरमसाध्येन समं संयुक्तो भवति, स एव योगः। वैदिकसम्प्रदायस्य योगविषयके सर्वमान्ये पातञ्जलदर्शने योगस्य समाध्यर्थः परिगृहीतः – योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इति।

ननु चित्तवृत्तिनिरोधश्च यत् किञ्चिच्चित्तवृत्तिनिरोधो वा सकलचित्तवृत्तिनिरोधो वेति? अत्रोच्यते तदपि यथार्थं लक्षणं न वक्तुं योग्यम्। तथा हि राजसतामसचित्तवृत्तिनिरोधस्य योगलक्षणत्वे ध्यानधारणासमाधिषु योगाङ्गेषु स्वतो योगत्वाभावेषु अतिव्याप्तेरापत्तेः। तथा हि धारणाध्यानसमाधीनां त्रयाणाम् एकविषयत्वं शास्त्रे उक्तम्। तदुक्तं संयमसूत्रम्- **त्रयम् एकत्र संयमः** इति (3/4)। तद्व्याख्यायां च व्यासभाष्ये भाषितम्- "एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्य त्रयस्य तान्त्रिको परिभाषा संयमः" इति।

स च विषयः उपादेयभूतं चैतन्यमेव इति। तत्र च पुराणवचनमेव मानम्। तदुक्तम्—

ध्यानं द्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्।
तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोभिधीयते।। इति।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इति सूत्रस्यास्य तात्पर्यं खलु यस्मिन्नवस्थाविशेषे प्रमाणविपर्ययादिवृत्तीनां निरोधो भवति, सोऽवस्थाविशेषस्तावद्योग इति गीयते। उक्तलक्षणाच्चित्तविषयिणी सत्प्रवृत्तिः, एकाग्रता निरोधश्चेति विषयत्रयं प्रतिध्वनितम्। एकाग्रतायै यम-नियमादिरूपे सत्कार्ये प्रवृत्तिरावश्यिकी तथा च चित्तैकाग्रतातः प्राप्ते सम्प्रज्ञातसमाधौ केषाञ्चिद्वृत्तीनां निरोधोऽवश्यमेव भवति। साध्येच्छा साधनेच्छामुपसंक्रामतीति न्यायेन सम्प्रज्ञातः योगसाधनत्वेन इष्यते इति तस्य पारोक्ष्येण=उपचारेण योगत्वम् अस्ति। अनेनैव न्यायेन यमादीनामपि औपचारिकं योगत्वमस्तीति बोध्यम्। किन्तु सर्ववृत्तीनामेकान्ततया निरोधार्थमसम्प्रज्ञातसमाधिलाभहेतुको निरोधरूपः परिणामोऽत्यावश्यकः। मोक्ष एव योगः स्यात्, नान्यः। न चेदं केषामपि इष्टम्। किन्तु मोक्षसाधनेषु योगत्वं कुत्र वर्तते इति प्रश्ने स्वतःपुरुषार्थत्वात् असम्प्रज्ञात एव योग इति उत्तरम्।

महाभारतस्य भीष्मपर्वान्तर्गतायाः *श्रीमद्भगवद्गीतायाः* द्वितीयाध्यायस्य पञ्चाशत्संख्यके श्लोके योगविषयिणी अत्यन्तगुरुत्ववहा संज्ञा विहिता भगवता श्रीकृष्णेन स्वमुखनिःसृतवाण्याम् - **'योगः कर्मसु कौशलम्।'** अर्थात् कुशलतया सह कर्मैव योगः। किन्त्विदं कर्म करणीयं फलासक्तिवर्जनपुरःसरम्। अस्या एव *गीतायाः* द्वितीयाध्यायस्य सप्तचत्वारिंशत्तमे श्लोके भगवता योगप्रसङ्गेनोक्तम्—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'**। अर्थात् कर्मण्येव तवाधिकारो न हि फले। एतादृशभावनापरका वक्तव्यः उक्तयः प्राप्यन्ते भगवद्गीतायाम्। योगः कर्मसु कौशलम् इति व्याख्यानम् अन्यथैव भवितुमर्हति। द्वितीयाध्यायस्याष्टचत्वारिंशत्तमे श्लोके योगप्रसङ्गे भगवतोक्तम् - **'समत्वं योग उच्यते'** । अर्थात् समत्वमेव योगः। पुनश्च षष्ठाध्यायस्य त्रयोविंशतितमे श्लोके गीतम् - **'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'**। अर्थात् यस्यामवस्थायां दुःखसंयोगस्यैव वियोगो भवति, स एव योग इति ज्ञातव्यम्। वस्तुतः परिभाषाद्वयं प्रायेण सममेव। दुःखसंयोगात्मको वियोगस्तथा सिद्ध्यसिद्ध्योर्वा सुख-दुःखयोः समत्वं चेति विषयौ सममेव।

व्यवहारिके क्षेत्रे साधको लाभालाभयोरनुकूलप्रतिकूलयोर्वा यस्यां कस्यामपि परिस्थित्यां सममेव तिष्ठति। तस्य रागद्वेषौ न स्तौ। एतादृशसाधनरूपया समतया स जगत्संसारमूद्धमितः। साधनरूपया समतया स्वतःसिद्धभावेन समरूपेणैव भवति परमात्मप्राप्तिः – 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः'[7] इति गीतोक्तवचनात्। महर्षेः पतञ्जलेर्योगदर्शने योगस्य यः परिणामप्रसङ्गः प्रोक्तः गीतायां स एव योगः। *गीतायां* चित्तवृत्तितः सर्वतोभावेन सम्बन्धविच्छिन्नपूर्वकं स्वतःसिद्धभावेन समस्वरूपेण स्वाभाविकी स्थितिः खलु योगः। समतायां स्थितिलाभे सति तस्मात् कदापि पुनो विच्छेदः व्युत्थानं वा न भवति। तथाह्ययमेव नित्ययोगः इत्युच्यते। योगः कर्मसु कौशलम् इति सूत्रस्यापरः कश्चनार्थो वर्तते। स चार्थस्तावत् कर्मणि योगः एव कौशलम्। अर्थादत्रोक्तवाक्ये योगस्य संज्ञा न, कुशलताया प्रसङ्गः आलोचितः। कर्म-फलयोः प्राप्त्यप्राप्त्योः सिद्धासिद्ध्योर्वा समरूपस्थितिर्हि कर्मणः कौशलम्। *श्रीमद्भगवद्गीतायाः* प्रत्येकमध्यायस्यान्ते योगशब्दः उक्तः। तद्यथा प्रथमाध्यायः समाप्तिं गच्छतीत्थम् – ओँ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः समाप्तः। उक्तवाक्ये ब्रह्मविद्या, योगशास्त्रम्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादश्चेति शब्देषु गीतायाः मुख्यालोच्याः ज्ञान-कर्म-भक्तियोगाः निबद्धाः। श्रीमद्भगवद्गीतायास्तृतीयाध्यायः खलु कर्मयोगनाम्ना, चतुर्थाध्यायो ज्ञानयोगनाम्ना तथा च, द्वादशाध्यायो भक्तियोगनाम्ना परिचीयते। यद्यपि गीतायाः सर्वत्रैवोक्तविषयोपादानानि परिलसितानि दृश्यन्ते।

महाभारतस्य शान्तिपर्वणि पितामहो भीष्मः युधिष्ठिराय ध्यानयोगं वर्णयामास। तन्मते, योगिनः शीतग्रीष्मादिकं सहित्वा नित्यं स्वत्त्वगुणेन स्थिताः सन्तः आसक्तिवर्जनपूर्वकं शौच-सन्तोष-नियमादिपालन-पुरःसरञ्च इन्द्रियादीनां निग्रहं कृत्वा स्त्रीसंसर्गवर्जनपूर्वकं तथा च, ध्यानविरोधिवस्तूनामभावयुक्तस्थले समाधिं कुर्वन्त्यैकान्तकर्तव्यतया। प्रतिदिनं मनसस्तथेन्द्रियानाञ्च ध्यानमार्गे स्थापनेन योगभ्यासे सति इन्द्रियैर्मनश्च स्वतः एव शान्तं तिष्ठति। इत्थं योगी सुखदुःखहीनतया मोक्षं लब्धुमलम्।

कर्मयोगस्तावन्निःस्वार्थकर्मणः पन्थाविशेषः। कर्मयोगे मुख्यतः प्रत्येकं क्रियैव कामनां विहाय ईश्वरस्य नैवेद्यरूपेण परिवेशिता भवति। कर्मस्वेव वर्तन्ते सर्वाणि शारीरिकाणि मानसिकानि च कर्माणि। कर्मयोगस्य साधकः सर्वदा अहमिकाभावं परित्यजति। तदा योगिनो हृदयादहंबोध-घृणा-हिंसादिकं विदूरीभवति। अपि च, प्रेमानन्द-समवेदनयोर्भावः प्रतिष्ठापितो भवति तद्हृदि। भगवद्गीतायास्तृतीयेऽध्याये अर्जुनः श्रीकृष्णं जिज्ञासते यत् युद्धो नोत्तमकर्मेति जानन्नपि कथं स महाभारतीययुद्धेन सह तं संयोक्तुं भूयो भूयोऽनुरुद्धवान्। तदा भगवच्छ्रीकृष्णः प्रोवाच – कर्म नामास्माकमुपलब्धिः प्रकृतात्मनः। कर्मणैवास्माभिर्जन्ममृत्युचक्रान्मुक्तिर्लभ्यते, यदा वयमैश्वरिकसन्तुष्टये निर्धारितं दायित्वं पालयामः। अन्यतः कर्मणः काङ्क्षितफलेन सह यदि कर्म संयुज्यते चेत्तत्कर्म अस्मान् वस्तुवादिना जगता समं संयुनक्ति।

महाभारतस्य शान्तिपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे ज्ञान-कर्मयोगयोरस्ति प्रशंसा। वैदिककर्म साधारणतया सकामभावनोपेतम्। किन्तु यत्कामनारहितं तत्खलु परमात्मनः प्राप्तौ सहायकम्। नित्यकर्मानुष्ठानेन

वयमासक्तिरूपदोषान्मुक्तास्सन्तः शुद्धान्तःकरणाः भवामः। तदान्तरे ज्ञानालोकः समुद्भासते मानवकर्मणोऽगोचरेण च कामनातीतं परमं ब्रह्म लभ्यते।

ज्ञानयोगो नाम ज्ञानस्य पन्थाः। ज्ञानयोगस्तावदर्जितज्ञानानुशीलनप्रज्ञाभिज्ञताभिरात्मपोलब्धेरभिज्ञतार्जनस्य दार्शनिकः पन्थाः। ज्ञानयोगस्य दर्शनेन समम् अहम् ब्रह्मास्मीति महावाक्यस्य सादृश्यं भजते। स्वामी विवेकानन्दः कथयन्नस्ति – ईश्वरः जीवितप्राणिरूपेण पृथिव्या आत्मानं प्रकाशयति। ज्ञानयोगाय निश्चप्रचमेव कश्चन गुरुरपेक्षते, यस्य निर्देशेन ज्ञानयोगी ज्ञानमर्जयितुमलम्। ततः परम् अन्वेषकादुरोः सकाशादर्जितज्ञानसाहाय्येन ब्रह्मणो ध्यानं लभ्यते। *भगवद्गीतायाश्चतुर्थाध्याये* वर्णितो ज्ञानयोगोऽतीन्द्रियज्ञानेन निर्मितः। भगवान् श्रीकृष्णः कथयति यद् आत्मनोऽतीन्द्रियज्ञानं तदैवार्जयितुं पार्यते, यदा सोऽन्वेषणकारी आसक्ति-भय-क्रोधेभ्यो मुक्तो भूत्वा परमात्मनि सम्पूर्णरूपेण लीनो भवति। एतदेव प्रकृतं ज्ञानम्।

*बृहदारण्यकोपनिषदश्*चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमे ब्राह्मणे सन्न्यासग्रहणात् पूर्वं याज्ञवल्क्यो यदा तत्पत्न्योर्गार्गीमैत्रेय्योर्मध्ये समस्तं वाह्यिकं सम्पदादिकं विभक्तुमियेष, तदा ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी कथयति – **येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्।** अर्थात् येन धनेन वयममृतं लब्धुं नालम्, तेन धनेन किम्। न हि पार्थिवं धनं, ब्रह्मतत्त्वस्यामृतत्त्वलाभस्य परमात्मनो वा लाभोपायान् विज्ञातुं याज्ञवल्क्येनोदितम् – **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्याषितव्यः।** अर्थात्, दर्शनेन श्रवणेन मननेन निश्चितरूपेण ध्यानेन चात्मा परिलभ्यः। अर्थात्, आदावाचार्यस्य वाक्यान् नाम शास्त्रवाक्यादात्मतत्त्वं श्रोतव्यम्, ततःपरम् तर्कयुक्तीभ्यां तदात्मतत्त्वं विचारणीयम्। तदनु निश्चयरूपेण ध्यानं करणीयम्। इत्थं श्रवण-मनन-निदिध्यासनैरात्मतत्त्वं दर्शनीयम्। वस्तुतो *बृहदारण्यकोपनिषदि* वर्णितस्यास्य ब्रह्मतत्त्वस्य पन्थाः ज्ञानयोगस्यैव पन्थाः। मुमुक्षसाधको ज्ञानमार्गमनुसृत्यैव तल्लक्ष्यमवाप्नुमलम्।

श्रीकृष्णः/परमात्मा/ ब्रह्म/ मुक्तिः/ परमानन्दः/मोक्षः

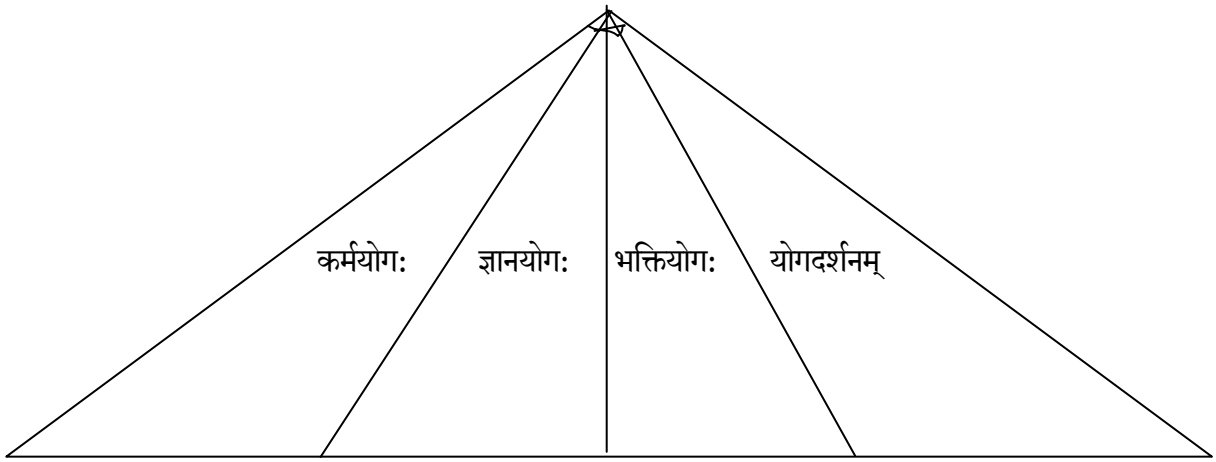

श्रीकृष्णः पुनश्च गदति यत्, परं ज्ञानमायाति निःस्वार्थभक्तिपरकेण कर्मणा। सकृत् सत्यज्ञानस्याभिज्ञतायां लब्धायां सत्यान्वेषिणोऽन्तरे विद्यमानमज्ञानं विदूरितं भवति। भक्ति-प्रेम-समवेदना-त्यागादिसत्त्वगुणानाश्रित्य पूर्णभावेनैश्वरस्य सकाशे समर्पणीयमिति भक्तियोगः। वृद्ध-युव-धनि-रिक्त-अस्वस्थ-स्वस्थादिषु यः कोऽपीश्वरस्य भक्तो भवितुमर्हः। तदर्थं प्रयोजनं केवलमीश्वरं प्रत्यस्माकं आत्मसमर्पणम्। योगस्य पथचतुष्टयमर्मध्ये भक्तियोगः सर्वातिशयः सहजलभ्यः पन्थाः। यदा कोऽपि गदति यत् भगवान् सर्वत्रैवास्ति, स सर्वत्र विराजते, तदा तत्प्रेम्णैव स परमात्मानं प्रति गच्छति। अयश्चावेगोऽन्वेषणकारिहृदयमीश्वरेण सह युनक्ति। भक्तियोगस्तावत् हृदयात् घृणा-लालसा-हिंसा-अहंकारान् विदूरीकरोति। अर्जुनेन यदा श्रीकृष्णं प्रति परमेश्वरेण सह मिलनस्य सरलतमोपाय उक्तस्तदा तेन भक्तिमार्गो व्याख्यातः। श्रीकृष्णनये, यः स्वकसर्वाणि कर्माणि ईश्वराय निवेदयति समप्रयति वा तथा तस्य सर्वकर्मणां फलमीश्वरोपरि सुस्थिरम्, स मुमुक्षुः मोक्षं प्रत्येति।

वङ्गभाषायां शेखर-सेनेन रचितमेकं श्यामासङ्गीतम्—

सकलि तोमारि इच्छा /इच्छामयी तारा तुमि/
तोमार कर्म तुमि करो मा /लोके बले करि आमि/
सकलि तोमारि इच्छा /पङ्के बद्ध कर करि/
पङ्गुरे लङ्घाओ गिरि /कारे दाओ मा ब्रह्मपद/
कारे करो अधगामी /कारे करो मा ब्रह्मपद/
कारे करो अधगामी /सकलि तोमारि इच्छा/
इच्छामयी तारा तुमि मा /तोमार कर्म तुमि करो मा/
लोके बले करि आमि /सकलि तोमारि इच्छा/
आमि यन्त्र, तुमि यन्त्री /आमि घर, तुमि घरनी/
आमि रथ, तुमि रथी /येमन चालाओ तेमनि चलि।"

उक्ते सङ्गीते भक्तियोगस्य मर्मार्थः स्पष्टतयोपलभ्यते।

वयं जानीमो यद्भक्तियोगस्यान्यतमा साधिका कृष्णान्तःप्राणा तावन्मीरावाई इति। साम्प्रतमध्यात्मजगति सा सर्वेषां परमाराध्या। भगवन्तं श्रीकृष्णं विश्वब्रह्माण्डस्य परमपुरुषरूपेण मत्वा सा तं परमात्मानं प्रति पूर्णरूपेणात्मानं समर्पयन्त्यासीत्। अस्याः साधिकाया अगणितेषु सङ्गीतेषु प्रतिध्वन्यते केवलं कृष्णप्रेम। तस्याः प्राणैः सह सम्पृक्तं केवलं कृष्णप्रेम। अपरतो, भक्तिमार्गस्य सर्वापेक्षया श्रेष्ठप्रचारकस्तावच्छ्रीचैतन्यमहाप्रभुर्नव-द्वीपवास्तव्यः। तस्य कृत्स्नं जीवनं परिव्याप्यासीत् केवला भगवद्भक्तिः कृष्णसेवा वेति।

भगवतो दिव्यगुणान् निशम्य द्रवीभूता चित्तवृत्तिस्तं सर्वेश्वरं प्रभुं प्रति यदा धाराप्रवाहरूपेण सर्वदा प्रवहन्ती भवति, तदा तद्भक्तिरूपतां लभते। तथा हि *ऋग्वेदे* आम्नातम् -

अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते।
समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः।।[8]

अर्थात् यथा गङ्गादिसप्तबृहतो नद्यः समुद्रं प्राप्य तत्र विलीना भवन्ति, तथैव भक्तानां मनसः सर्वा वृत्तिः परमेश्वरं प्रति गच्छति तस्मिन्नेव च विलीयते। अस्य भक्तितत्त्वस्य निदर्शनं वेदस्य बहुत्रैव प्रकीर्णशीर्णतयोपलभ्यते।

उपसंहृतावभिधातुमलं यद्भारतवर्षस्य चिराय आदर्श-संस्कृति-महिम-जीवनबोधाः प्रतिभासन्ते भारतीयसाहित्येषु। सुमहद्वैदिकसाहित्यप्रपञ्चं वा भवतु, रामायणं महाभारतं वेति ऋषयस्तेषाञ्चेतनया स्वानुभूतभावान् प्रतिभया अमरत्वं प्रददुः। महाभारतप्रणेतृवेदव्यासस्तत्कृतावैतादृशं किमपि तत्त्वालोचनं न चकार, भाविप्रजन्म तात्त्विक-रसास्वादनाद् वञ्चितं भवेदिति। तस्मादेवाभाणकोऽस्ति – यन्नेहास्ति, तन्नास्ति भारते। महाभारतस्य तात्त्विकालोचनासु धर्मः, राजनीतिः, आदर्शजीवनबोधः, मूल्यबोधः, सामाजिकं तत्त्वञ्चेति किं न विधृतमस्ति। वस्तुतः, धर्मार्थकाममोक्षाणामेकत्र समावेशः प्रायो दुर्लभो *महाभारतं* विशेषेण गीतामृते।

मुक्तितत्त्वं भारतीयजीवनधाराया भारतीयदर्शनस्य चाङ्गस्वरूपम्। अत्र मानवा बहुदेवतानामुपासनायां सचेतनतयावचेतनमनसा च परमात्मानं कामयन्ते। परमात्मप्राप्तौ वयं सर्वदा निमग्नाः स्यामः। भारतीयदर्शने मोक्षलाभस्य बहवः सदुपायास्तात्त्विकरूपेणोपवर्णिताः। *ऋग्वेदे* उपनिषत्साहित्ये इतरभारतीयदर्शने च ऋषयः (क्रान्तदर्शिनः) शाश्वतोपलब्धिं क्वचित् प्रत्यक्षतया क्वचिच्च सुगभीरया व्यञ्जनया प्रकाशितवन्तः। महर्षिणा व्यासदेवेन तदुपलब्धिं सरलया भाषया भावराजिभिश्च साधारणमनुजानां बोधसौकर्याय प्रकटीकृत्य महाभारताख्यमार्षकाव्यं व्यरचि। विशेषतया महाभारतस्य भीष्मपर्वान्तर्गतायां गीतायामेव सोपलब्धिर्विधृता। ब्रह्मणः परमात्मनो वा प्राप्त्युपायाः कर्म-ज्ञान-भक्ति-योगैरूपस्थाप्यन्तेऽत्र। गीतोक्तेन ध्यानयोगेन समं पतञ्जलेर्योगदर्शनस्य तात्त्विकालोचनायाः बहुलांशेन साम्यं वर्तते। व्यासदेवेन भगवन्तं श्रीकृष्णं विश्वब्रह्माण्डस्य मूलकारणत्वेन वर्णयता तस्य प्राप्त्युपायः स्वयंभगवतो मुखनिःसृतवाणीषूक्तः। महाभारतस्यान्येषु पर्वसु परमात्मलाभोपायाः सन्निविष्टा अपि ते तु सुदुर्लभाः इतरभारतीयसाहित्यप्रपञ्चे। योगोपायो योगप्राप्युपायो वा भिन्नोऽपि मूलं तत्त्वन्त्वेकमेव। पारिशेष्येण रवीन्द्रनाथठक्कुरस्य वङ्गोक्तेः संस्कृतप्रतिरूपमत्रोल्लिख्य वारमाम्यहम्–ज्ञानकर्मभक्तीनां समन्वयात्मको योगो हि कृत्स्नस्य भारतवर्षस्येतिहासस्य चरमं तत्त्वम्। निःसन्दिग्धतया पृथिव्याः सर्वा जातय एव स्वेतिहासस्यान्तं गत्वा कस्या अपि समस्यायाः मीमांसां तत्त्वञ्च निर्णीतवत्यः। अपि च, देशीयेतिहासमाध्यमेन मनुष्यचित्तगतञ्चरमं सत्यं सन्दधति स्म प्राप्नुवन्ति स्म चैता जायतः। परं स्वसन्धानमिदं सत्यञ्च जातिप्रपञ्चं स्पष्टतया न वेत्ति। नैके मन्यन्ते यत्तस्य पन्थानः इतिहासः केवलः इतिहासः, तत्र मूलाभिप्रायस्तथा चरमं गम्यस्थलञ्चत्युक्ते किमपि नास्ति। किन्तु भारतवर्षमेकदा अस्मत्कृत्स्नेतिहासस्य चरममेकं तत्त्वं विश्वं निकषा उद्घोषयति स्म। मानवेतिहासस्य ज्ञान-भक्ति-कर्माणि नैकेषु स्थलेषु स्वतन्त्रतया मिथः विरुद्धरूपेण स्वपथेन गच्छन्ति। विरोधस्यास्य विप्लवो भारतवर्षे सम्यक्तया

घटित इति कृत्वैवैकस्मिन् स्थले स समन्वयः स्पष्टतया द्रष्टुमलम्। मानवीयाः सर्वे प्रयत्नाः कुत्रागत्याविरोधेन सन्मिलितुमर्हन्तीति महाभारतं तस्य परमलक्ष्यस्यालोकवर्तिकां प्रतिचतुष्पथं प्रकटीचकार। सालोकवर्तिका खलु श्रीमद्भगवद्गीतेति शम्।

परिशीलिता ग्रन्थानुक्रमणी

उपनिषद् ग्रन्थावली – स्वामी गम्भीरानन्द (सम्पा.), उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता।

ऋग्वेदसंहिता (द्वितीय खण्ड) – विजनविहारी गोस्वामी (सम्पा.), हरफ प्रकाशनी, कोलकाता, 2000 (चतुर्थसंस्करणम्)।

पातञ्जलयोगदर्शनम्—तत्त्ववैशारदीयोगवार्तिकटीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्, सम्पादिका विमला कर्णाटक, काशीहिन्दुविश्वविद्यालय एवं रत्नापाव्लिकेशन, वाराणसी, 1992।

योगदर्शनम् षट्टीकोपेतम् — चौखम्बा संस्कृत सीरिज आंफिस, बनारस, 1951।

वेदान्तदर्शनम् — (प्रथमः अध्यायः) स्वामी विश्वरूपानन्दः (अनुवादकः व्याख्याता च), स्वामी चिद्घनानन्द पुरी, वेदान्तवागीशः श्री-आनन्द-झा-न्यायाचार्यश्च (संशोधकसम्पादकौ), उद्बोधनकार्यालय, कलकाता, 1996 (तृतीयसंस्करणम्)।

बृहदारण्योकनिषत् — झर्णा भट्टाचार्य (सम्पा.), संस्कृत पुस्तक भाण्डार, कलकाता, 2006।

श्रीमद्भगवद्गीता — स्वामी रामसुखदास (सम्पा.), गीता प्रेस्, गोरखपुर।

An Introduction of Indian Philosophy - Chandra Satish Chatterjee & Dhirendranamohon Datta, Culcutta: University of Calcutta, 1984.(Rep.).

तथ्यसूत्राणि

1. *ऋग्वेदः*, 1/164/46
2. *तत्रैव*, 10/114
3. *निरुक्तम्* (7.4)
4. *ईशोपनिषत्* (5)
5. *तैत्तिरीयोपनिषद्*, भृगुवल्ली, षष्ठोऽनुवाकः
6. *ऋग्वेदः*, 1/18/9
7. *श्रीमद्भगवद्गीता* (5/19)
8. *ऋग्वेदः*, 1/71/7

प्रभाषकः, संस्कृतविभागः.,
वुनियादपुर-महाविद्यालयः,
दक्षिण-दिनाजपुरम्, 733121,
पश्चिमवङ्गः।
चलवाणी-9775840064
Email-santigopaldas901@gmail.com

An Understanding of the Nature of Consciousness/ Self ThroughUpaniṣadic Dialogue

Dr. V Sujata Raju

Abstract: Consciousness has been the fundamental concept of Indian philosophical thought. The earliest and significant analysis of the three states of consciousness is found in the *Bṛhadāraṇyaka* and the *Chāndogya Upaniṣads*. Complying upon these *Upaniṣadic* references, I would like to begin my paper with an analysis of the states of Consciousness in these two *Upaniṣads*. The paper brings out the nature of Consciousness/Self based on the dialogues/ interlocution in *Bṛhadāraṇyaka*, *Chāndogya and Māṇḍūkya Upaniṣads*. The understanding of the nature of consciousness gets revealed from the dialectical enquiry between the seeker and the seer. The seer knowing the eligibility of the seeker's intense desire to realize its true nature proceeds to unfold the nature of consciousness through the rigorous examination of the three states of Consciousness namely: wakeful, dream and deep sleep. Though the three states are universally experienced by all human beings differently but the Self/Consciousness that underlies them is unchanging in all the three states. The dialogues between Aj*ā*taś*a*tru and G*ā*rgya, sage Y*ājñ*avalkya and king Janaka in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad;*between Indra and Prajāpati,Udd*ā*laka *Ā*ruṇi and his son *Ś*vetaketu in *Chāndogya Upaniṣad* have been investigated for an understanding of the true nature of Consciousness.

Key words:*Consciousness, Self, Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, Chāndogya Upaniṣad, MāṇḍūkyaUpaniṣads*

Introduction: The study of Consciousness and the examination of the three states of Consciousness are found in the three principal philosophical treatises viz., the *Bṛhadāraṇyaka, Chāndogya andMāṇḍūkyaUpaniṣads.* The discussion of 'Consciousness' is emphasized in these *Upaniṣads*while explaining the real nature of the Self/ *ātman.* The *ātman,* though usually translated as 'Self' does not refer to the empirical self, the 'I'. In the *Upaniṣads* both *ātman* and Consciousness refer to pure Consciousness, a kind of trans-empirical Consciousness, it is not only different from the empirical Consciousness but also is the source/ substratum of the latter. In the present paper, I have used the terms

'Self', '*ātman',* 'Brahman', 'Consciousness', 'pure Consciousness' are synonyms. The *Upaniṣadic* tradition holds that the Self/Consciousness is the continuously present, metaphysical substratum i.e., distinct from the three states namely wakeful, dream and deep sleep. Consciousness is non-dual, pure witness of the manifestations, alternations, displacement of three states of Consciousness. It is unattached and unaffected by the three states. The single cognition 'I am That' persists throughout all the states of Consciousness.

Self/Consciouness in Bṛhad*ā*raṇyaka Upaniṣad

Discussions about the three states of consciousness occur twice in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad.* The first one occurs in the form of a dialogue between Aj*ā*taś*a*tru and G*ā*rgya in the chapter two as a prelude to the discussion of Consciousness.Aj*ā*taś*a*tru asks G*ā*rgya a significant question: 'where does a person (*puruṣa*) who possesses consciousness (*vijñānamaya*) go during sleep and from where does he come back'? (*BU* II.i.16)[1]

G*ā*rgya could not answer this question. Aj*ā*taś*a*tru then takes G*ā*rgya to a person who is asleep and points out that: 'when this person/being is asleep, it (being) absorbs, at that time, the functions of the organs through its own consciousness, and rests in the Supreme Self (*ākāśa*) that is in the heart. When this being absorbs them, it is called *svapiti.* Then the organ of smell is absorbed, the organ of speech is absorbed, the eye is absorbed, the ear is absorbed, and the mind is absorbed' **(***BU.* II.i.17)[2]. The literal meaning of the word *svapiti* is 'merged (*apiti*) in its own Self (*svam*)'. In dream, the mind and the senses are not restrained and a person moves as he pleases, he becomes a great king or a noble Brahmin as it were: or attains, as it were, high or low states. Just as a great king, takes his citizens with him, and moves about in his domain as he pleases, so does the Self takes breath etc. with him and moves about in this body as he pleases **(***BU.* II.i.18)[3]. In deep sleep, however, a person knows nothing: he moves through the seventy-two thousand nerves (channels) called the *hitā* and rests in the pericardium. In this state, one rests like a youth or a king/emperor or a Brahmin who has reached the maximum (*atighni*)of bliss(*BU* II.i.19)[4].

In another well-known dialogue, found in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad,* a brilliant discourse on the nature of Self/Consciousness is given by Sage Y*ā*jñavalkya. This section brings out the nature of Self as the Light of all lights and this Light requires no other light to illumine It (*svayamjyoti).* In this dialogue between Y*ā*jñavalkya and king Janaka, the king desires to know the source of illumination that makes it possible for human beings to function in this world. Y*ā*jñ*ā*valkya initially informs the king that it is the light of the sun. This answer, however, does not satisfy the king. He further asks: when the sun has set what light does a person have? Y*ā*jñ*ā*valkya informs him that it is the light of moon. This reply does not satisfy the king either. He queries further: with the setting of the sun

and the moon, what light does a person have? Y*ājñā*valkya then replies: 'it is the light of fire'. The king persists in questioning and asks what happens when the sun and the moon have both set, when the fire has gone out? Y*ājñā*valkya informs him that it is the *vac* or the word (the speech) also provides the light and enables us to perform our activities. The king finally asks: what is the source of light when the *vac* is also at rest? Y*ājñā*valkya replies: 'The Self serves as his light. It is through the light of the Self that, he sits, runs around, does his work and returns. The Self is its own light; it is self–effulgent, it is self-luminous'(*BU* IV.iii.6)[5].

Y*ājñā*valkya then goes on to describe the different states of consciousness. In the waking state, a person moves and functions on account of external physical light. In this state, the eyes and the other organs, which are outgoing in their tendencies, are helped by the external light of the sun, moon etc. A person lives and moves in the world utilizing the physical light. So, we see that in the waking state a light extraneous to his body, which is an aggregate of parts, serves as the light for him. Just as a person sits, moves, goes out, works and returns in the waking state, even so he sits, moves, and does various activities in the dream state. The physical light from the sun that one is familiar in waking is absent in dream state. However, a person who performs various activities in dream must be helped by some other light. What, then, is the light for him? When a person wakes up from deep sleep, he remembers his sleep experience and claims that he slept in peace and knew no object. There must have been some light in deep sleep with the help of which a person is able to experience peace/happiness. Therefore, there should be some internal light operating in the dream and deep sleep states. The central question is 'What is that light?'

Let us suppose that two persons are trekking in jungle and they get separated at a particular point where there is neither the sun nor the moon, not even the stars, to give them direction/light at that time. When one of them shouts calling the name of the other person, the latter hears his voice and guesses the direction from which the sound comes for the purpose of locating him. Sound, which is the object of hearing, stimulates the ear, i.e., the auditory sense, and activates the mind of the person who hears the sound. In this situation, we say that speech serves as the light. One may ask: 'How can speech be called a light, for it is not known to be such'? Y*ājñā*valkya answers this question. He says that, since a man lives and moves in the world helped by the light of speech, therefore it is a well-known fact that speech serves as a light. *Śa*ṅkara in his commentary on the text says that what is true of speech is equally true of other organs. The mention of the light of speech includes odour, etc. For, when odour and the rest also help the nose and other organs, a man is induced to act, or dissuaded from action, and so on. Thus, they also help the body and the organs (*BU* IV. iii. 5)[6]. *Śa*ṅkara elucidates in his commentary on *BU* IV.iii.6[7] how the Self or Consciousness serves as the light. He says: By the word 'Self' is meant that light which is different from one's body and organs, and illumines them like the external light provided by the sun, moon etc. but is itself not illumined by anything

else. A human being in the absence of all physical lights does not lose the knowledge of his own existence/presence. The Self is different from the body, the senses, and the mind etc. In fact, the physical (external) lights such as the sun, moon and fire are illumined by the light of the Self. If there were no Consciousness who can illumine or establish the presence of physical lights? All lights require Consciousness to prove their presence. The Self on the other hand being non-material is not illumined by any light, or by any sense organs like the eye etc.

Janaka, now continuing with the discussion asks the question 'which is the Self'among the organs of the individual **(***BU* IV.iii.7)[8]. In other words, Janaka wants to know about which exactly is the self in the body which comprises of sense organs etc. The Self *per se*, is non-relational (*asaṅgo hi ayaṁpuruṣaḥ*) declares Y*ājñā*valkya **(***BU* IV.iii.15-16)[9]. One does not know its non-relational nature because of the functioning of the internal organ called the intellect. The ever *asaṅga* Self wrongly identifies itself with the intellect and becomes almost difficult to differentiate one from the other. Y*ājñā*valkya uses the significant expression, '*vijñānamaya*', in his answer to Janaka's question, to highlight the association of the Self with the intellect in all our cogitations. *Śaṅ*kara in his commentary explains the meaning of the expression, '*vijñānamaya'* and also thefunction of the intellect which is the adjunct or the conditioning factor of the Self. To quote *Śaṅ*kara:

*'Vijñānamaya'*meansidentified with the intellect; the Self is so called because of our failure to discriminate its association with its limiting adjunct, the intellect, for it is perceived as associated with the intellect, as the planet Rahu is seen with the sun and the moon. The intellect is the instrument that helps us in everything, like a lamp set in front amidst darkness. It has been said, 'it is through the mind that one sees and hears' (*BU* 1. v.3). Every object is perceived only as associated with the light of the intellect, as objects in the dark are lighted up by a lamp placed in front; the other organs (such as the visual sense) are but the channels for the intellect **(***Ś*Bon*BU*IV.iii.7)[10].

Y*ājñā*valkya further explains how the Self, though different from the intellect, assumes the likeness of the intellect.

The intellect is that which is illumined, and the light of the Self is that which illumines, like light. We cannot distinguish the two because light is pure that it assumes the likeness of that which it illumines. When it illumines something coloured, it assumes the likeness of that colour. For example, when it illumines something green, blue, or red, it is coloured like them .Similarly the Self, illumining the intellect, illumines through it the entire body and organs …. Therefore, through the similarity of the intellect, the Self assumes the likeness of everything. Therefore, it cannot be taken apart from anything else like a stalk of grass from its sheath, and shown in its self-effulgent form **(***Ś*B on *BU* IV.iii.7)[11].

Hence Y*ājñā*valkya says: 'Assuming the likeness of the intellect,……. It thinks, as it were, and shakes, as it were' (*BU* IV.iii.7)[12]. The truth is that it is devoid of agency of any kind, devoid of cogitations of all types. Then, how can we know its non-relational nature, that is to say, that it is not really connected with any object which is transcendent to it? Its non-relational nature becomes partially manifest as a person moves from the waking to the dream state, giving up everything which he claims as his own in the waking state. This is how Y*ājñā*valkya puts it:

'Being identified with dream, it transcends this world – the forms of death' (*BU* IV.iii.7)[13].

It is difficult to understand when Y*ājñā*valkya says that the Self identifies itself with dream and again what are the forms of death without the help of *Śaṅ*kara's lucid commentary. The dream objects are nothing but the modifications of the mind as in the case of the waking state; the Self which illumines the mind in dream becomes one with it, and is not experienced as separate entity. The following is *Śaṅ*kara's explanation:

The Self seems to become whatever the intellect which it resembles becomes. Therefore, when the intellect turns into dream, i.e., takes on the modification called dream, the Self also assumes the form; when the intellect wants to wake up, it too does that. Hence the text says: 'Being identified with dream', revealing the modification known as dream assumed by the intellect, and thereby resembling it, 'it transcends this world', i.e., the body and the sense organs, functioning in the waking state. Since the Self stands revealing by its own distinct light the modification known as dream assumed by the intellect, it must be Self-luminous, pure, and devoid of agency and action with its factors and results… Death has no other forms of its own; the body and the sense organs are its forms. Hence the Self transcends those forms of death, on which actions and their results depend (*Ś*B on *BU* IV.iii.7)[14].

As in the case of the waking state, in dream also, the Self or Consciousness is not the agent of any action, but appears to be an agent when it illumines the modifications of the mind. The truth is that the objects which appear during waking Consciousness disappear in dream consciousness: similarly, those which appear in dream Consciousness disappear in waking consciousness. Just as the Self is not bound by the objects which it is conscious of through the functioning of the mind in the waking state, even so it is not bound by anything which it is conscious of through the modifications of the mind in dream; so it is able to discard and disown them when it comes back to the waking state. The implication here is that the Self is really non-relational though it appears to be relational in these states. The *Upaniṣad* also confirms this by the example of the *mahāmatsya* the great fish (*BU* IV.iii.18)[15]. Just as a great fish swims from one bank to another of a river without being affected by the current of the water, even so the Self

moves from the waking state to dream and then back to the waking state without being affected or touched by the objects, gross or subtle as the case may be, in these two states.

The principal passages of dream state have been explained in *BU*. IV. iii. 9-14 as follows**:**

'And there are only two states for that person (the individual Self): the one here in this world, the other in the next world. The third, the intermediate, is the dream state. When he is in that intermediate state, he surveys both states: this and the next world. Now, whatever support he may have for the next world, he provides himself with that and sees evils, sufferings and joys' (*BU*. IV. iii. 9).

'And when he dreams, he takes away a little off (the impression of) this all–embracing world (the waking state), himself makes the body unconscious, and creates a dream body in its place, revealing his own brightness (*jyotiḥ*) by his own light –and he dreams. In this state the person becomes Self-illumined' (*BU*. IV.iii.9).

In dream one experiences all diverse phenomena of the waking state and also the subject–object relationship. While dreaming, the man sees the functioning of the sense organs and also such external lights as the sun and moon, which illumine objects in the waking state. Then how can it be said that in the dream state the man himself becomes the light? The answer given by Y*ājñ*avalkya's is as follows:

'There are no (real) chariots, nor animals to be yoked to them, nor roads there, but he creates the chariots, animals, and roads. There are no pleasures in that state, no joys, no delights, but he creates the pleasures, joys, and delights. There are no pools, tanks, and rivers, but he creates the pools, tanks, and rivers. He indeed is the agent' (*BU*. IV.iii.10). To this the following verses refer:

'The effulgent infinite being (*puruṣa*), who travels alone, makes the body insensible in the dream state but himself remains awake, and taking with the luminous particles of the organs, watches those that are asleep. Again he comes to the waking state' (*BU*. IV. iii.11).

'The effulgent infinite being (*puruṣa*) who is immortal and moves alone, preserves the unclean nest (the body) with the help of the vital breath (*prāṇa*) and himself moves out of the nest. He the immortal being goes wherever he likes' (*BU*. IV. iii. 12).

'In the dream state, the luminous one attains higher and lower states, creates many forms. He seems to be enjoying himself in the company of women, now as if happy with laughter, now as if seeing things in terror and of fear' (*BU*. IV. iii.13).

'Everyone sees his sport, but none sees him'. 'So one should not, they say, suddenly wake up a man sound asleep. Hard to cure him if he does not find the right organ. Others, however, say that the dream state of a man is the same as the waking state,

because what he sees while awake, that only he sees in dream. In the dream state the Self (*puruṣa)* itself becomes the light' (*BU*. IV.iii.14).

In the deep sleep state consciousness passes into a state in which there are no dreams, no desires, and no pleasure. The *Upaniṣad* gives an example of a hawk with a view to show what and how we learn about the nature of the Self or Consciousness through the state of sleep. It says:

As a hawk or a falcon flying in the sky becomes tired, folds its wings and goes to his nest to rest, the Self in this (deep sleep) state is free from pain, does not lack anything, and does not know anything; there are no desires, no dreams **(***BU* IV.iii.19). All distinctions are lost in sleep. One knows neither what is without nor what is within. Y*ājñā*valkya explains this experience with the help of an analogy: just as a man, when embraced by his beloved wife, does not know anything within or without, even so the empirical Self (person), when embraced by the all-knowing Self knows nothing within or without. That truly is his form in which desires are all appeased, in which the Self alone is his desire, in which he has no desire and no sorrow to approach him. The Self sees nothing in sleep because it alone is. There is a perfect quietude (*saṁprasanna*). It is bliss (*BU*. IV.iii.21). It is said:

'While one does not see anything there, one sees everything there. Seeing, one sees not: *for there cannot be any absence of the sight of the seer, immortal as it is***.**There is no other/ second for him to see, no other distinct from him'(*BU.* IV.iii.23).

In this state, though the Self does not see with the eyes, it is an undeniable seer. The character of seeing is intrinsic to the Self; the Self can never lose this characteristic just as fire cannot lose the characteristic of burning. The Self sees by its own light, it is the ultimate seer; there is none other for the Self to see. The above quoted passage clearly brings out the nature of Self as Light meaning that the ever-present Consciousness which is its *svarupa* (nature) and not a *viśeṣaṇa* (adjective)

*Śaṅ*kara in his commentary on *BU.* III.iv.2 explains the case of seeing/vision by the visual sense which is supported by both the mind and consciousness. To quote *Śaṅ*kara:

'Seeing is of two kinds, ordinary and real. Ordinary seeing is a function of the mind as connected with the visual sense; it is an act, and as such it has a beginning and an end. But the seeing that belongs to the Self is like the heat and light of fire; being the very essence of the Witness (Self), it has neither beginning nor end. The ordinary seeing/vision, however, is related to the objects seen through the eye, and of course has a beginning. The eternal seeing of the Self is metaphorically spoken of as the witness and although eternally seeing, is spoken of as sometimes seeing and sometimes not seeing'(*Ś*B on *BU* III.iv.2)[16].

In deep sleep the Self's identity with all (*sarvātma-bhāva*) is realized. He who knows thus the significance of the experience of deep sleep knows the truth. There is a

total loss of one's individuality here. All individual cognitions as well as the distinctions of good and evil based on such cognitions are dissolved in the state of union with Self.

'In this state a father is not a father, a mother is not a mother, world is not world, gods are not gods and the *Vedas* are not the *Vedas*. In this state a thief is not a thief, a murderer not a murderer, an outcaste not an outcaste, a lowly born not a lowly born, a monk is not a monk, an ascetic is not an ascetic. He is untouched by good deeds and untouched by evil deeds, for he is then beyond all the sorrows of the heart' **(***BU* IV.iii.22)[17].

The *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* in a series of passages IV.iii.23-30[18]**,** denies the association of Consciousness with every activities including the knowing even though it continues to be an eternal Witness. It says the Witness, though seeing then, does not see; though smelling then, does not smell (for the smelling of the smeller is never lost); though tasting then, does not taste; though speaking then, does not speak; though hearing then, does not hear; though thinking then, does not think; though touching then, it does not touch; though knowing then, it does not know (for the knowing of the knower is never lost), because there is nothing to be seen, smelt…, and known even though its presence is there in the Witness. It has always the power of revelation; but there are no objects to be revealed by it since the mind and the organs do not function in this (deep sleep) state. Its paradoxical language is intended to show, by recapitulating the knowledge situation we are familiar with, that in deep sleep state there is no trace of knowledge situation whatsoever. We are able to make such a claim because of the Self which is the Witness to the absence of the knowledge situation.

In *BU.* IV.ii.2 Y*ājñā*valkya speaksof *Indha-Indra* who is the person in the right eye. Though he is *Indha*, people call him by the indirect name Indra; for the gods are fond of indirect names and hate to be addressed directly. The person in the left eye, *Virāja (or Virāta),* is his wife. Their meeting place is the space within the heart **(***BU.* IV.ii.3). The Self consisting of *Indha* and *Virāja* is the eater of finer food than is the bodily Self. The *prāṇas* are his quarters ('the eastern quarter is his eastern breaths; the southern quarter is his southern breaths' etc). 'This Self is That which has been described as 'not this, not this'. It is imperceptible, for It is never perceived; indestructible, for It never decays; unattached, for It is never attached; unfettered, for It never feels pain and never suffers injury...' **(***BU.* IV.ii.4).

*Śaṅ*karasees in this section of the *Bṛhadāraṇyaka* a reference to the four *pādas* of the Self, the first three which are non-absolute forms in the three states of consciousness, and the fourth which is the real Self, the *Turīya–ātman. Indha or sarira–ātman* what is called *Viśva* byGauḍapāda and *Vaiśvānara* by the *Māṇḍūkya Upaniṣad.* The Self which eats the finer food (*praviviktaharatarah)* is *Taijasa*. The Self whose quarters are the

prāṇas (sarve prānaḥ) is *Prājña.* What is referred to as *Caturtha* or *Turīya* in the *Māṇḍūkya* is here indicated by the words 'not this, not this' *(sa esa neti neti).*

We find thus an appealing account of Consciousness which lays the foundation for all future understanding. Consciousness is self-revealing, self-luminous, never unfolded by any senses but which illumines all the senses and all the physical lights. It is the witness whose nature is "sight" which can never be lost. Nothing can dismantle this; nothing can wipe it out or nothing can erase it. Consciousness is the light that illumines the wakeful, dream and the deep sleep; everything has a resolution (*laya*) in Consciousness but not the witness of all resolutions. This is an extra ordinary unfoldment on Consciousness. Herein, we see with clarity the non- intentionality of Consciousness.

Self/Consciousness in *ChāndogyaUpaniṣad*

As enumerated in the *ChāndogyaUpaniṣad* (8.7-12) there is the exposition of three states and the Self which remains in and through the states free from all blemishes. This teaching is in the form of a dialogue wherein Praj*ā*pati figures as the preceptor and Indra and Virocana as the pupils. Praj*ā*pati, the teacher delineates the nature of the Self thus: "The Self, is free from evil, free from old age, free from death, from sorrow, hunger and from thirst. That is to be regarded as the Self whose desires come true, and whose thoughts come true. That is the Self one should seek, that is the Self one should desire to know. He who has known this Self, has realized that Self, attains he all the worlds, his desires are fulfilled" (*ChU* 8.7.1)[19].

The gods (*devas*) and the demons (*asuras*) both heard these words, and they desired to know the knowledge of immortal Self. Both Indra (representing gods) and Virocana (representing demons or *asuras*) decided to approach Praj*ā*pati independently as envoys on the mission of learning from him knowledge of the Self. Being thus approached, Praj*ā*pati asked both of them to observe celibacy (*brahmacarya*) for a period of thirty-two years so as to get prepared for initiation into the sacred knowledge. And at the end of this period of celibacy they approachedPraj*ā*pati for instruction about the Self. Praj*ā*pati said, "*The person that is seen in the eye, that is the Self/atman, that is the immortal, that is the fearless, that isBrahman*". The implication of this statement is that the primeval/fundamental principle which is responsible for seeing and knowing is the Self. Indra and Virocana took "the person that one sees in the eye" to mean the image reflected in the eye. To confirm their understanding, they asked Praj*ā*pati, "But, then, Lord, who is this one that is perceived in water and this one that is perceived in a mirror"? Praj*ā*pati replied, "the same one, indeed, is perceived in all these" i.e., only the seer in the eye is the Self. From this they drew the corollary that the reflection of the body which is seen in media like water and mirror is the Self. When they informed Praj*ā*pati of what they had inferred from his teaching, Praj*ā*pati said, "Look at yourself in a pan of water; and then come and tell me what you do not understand of the Self" So they looked into a pan of

water and reported that, 'we see, sir' said they, 'this entire Self of ours, a perfect likeness of it, down to the very hairs and nails'.

Praj*ā*pati directed them to look again in the pan of water after adorning themselves, putting on their best cloths and cleaning themselves. They followed the instruction, beautified themselves, looked at their charming reflections, and went away satisfied, thinking that the reflection and the body which was reflected constituted the Self. Praj*ā*pati did not correct them at that stage, for he wanted to test them and give the true doctrine only to him that had proved his fitness through enquiry.

Reaching back to demons(*asuras)*, Virocana told them of the experience which they not only appreciated but accorded the status of being the central creed of their lives. "The body is the Self" he declared, "the Self (i.e., body) alone is to be worshiped here on earth, the Self (the body) alone is to be served. It is only by worshipping the Self here and serving the Self that one gains worlds, this and the next" According to him Self is the reflected image of the body seen in a mirror in the waking state. Thus, in view of Virocana, Consciousness (i.e., Self) is that which is identified with the body in the state of wakefulness.

Though at first this doctrine seemed to satisfy Indra, very soon he realized its serious defect. "This Self" (in the shadow), he thought, 'is well adorned when this body is well adorned, is well dressed when the body is well dressed, clean when the body is clean'. So, this (reflection in the water) will be blind when this body is blind, sick when this body is sick, crippled when this body is crippled, and will perish when this body perishes. Indra saw nothing good in this doctrine.

Indra went back to Praj*ā*pati and apprised him of his difficulty. On having completed another course of celibacy for thirty-two years, Praj*ā*pati said to him, 'He who moves about happy in dreams, he is the Self. That is the immortal, the fearless. That is Brahman'. Then Indra went away with tranquil heart. But even before he had reached the gods he saw this danger. 'It is true', he thought, 'that when this body becomes blind, the Self does not become blind, when this body becomes sick, it does not become sick, when this body getting tainted with faults, it does not get so tainted…." Although the Self is not affected by the defects of the body in dreams, it is not killed when this body is killed, nor one-eyed when it is one-eyed, yet they kill it, as it were; they chase it, as it were. It becomes conscious of pain, as it were; it weeps, as it were. Indra was not satisfied in this doctrine too" (*ChU* 8. 10. 1-2)[20]**.** Indra lived with Praj*ā*pati for another thirty-two years. Then Praj*ā*pati said to Indra:

"When one is fast asleep, all composed (*samasta*), and serene (*samprasanna*), and knows no dreams, that is the Self, that is the immortal, the fearless, that is Brahman" (Ch U 8.11.1)[21].

However, Indra himself comes to reject this view. Thus, the *Upaniṣad* says: then, even before reaching the gods, he (Indra), saw this danger, "In truth, this one (the Self in the state of deep sleep) does not exactly know, 'I am this'. Nor does it know these beings. It has therefore reached utter annihilation (*vināśa*)" Indra feels that if there are no objects of which we are conscious, even the subject becomes destroyed. So, Indra approached Prajāpati once more. Prajāpati asked him again to pass through another course of celibacy but now only for five years before he got fully prepared for receiving the final lesson into the real nature of Self/Consciousness. On Indra's coming back well prepared, Prajāpati told:

"Mortal indeed, is this body, in the grip of death. But of the immortal Self, the bodiless, is this the abode. In the grip of pleasure and pain is surely the embodied, no release from these is possible for it. The unembodied these cannot touch, neither pleasure nor pain" (ChU. 8.121.1)[22].

The purpose of Prajāpati's teaching in the *Chāndogya*, as of Yājñavalkya's analysis of the three *avasthās*, in the *Bṛhadāraṇyaka*, is to exhibit the true nature of the Self, as free from the defects due to the association with the objects of the states of waking, dream and sleep.

In another dialogue in the *Chāndogya Upaniṣad* (6.8 and 6.8.1) must be considered in order to complete the analysis of the teachings about the state of deep sleep. Āruṇi known as Uddālaka said to his son Śvetaketu, "Learn from me, my son, the true nature of sleep (*svapanānta*). When a person has entered into deep sleep, he becomes united with Pure Being (*sat*), he has gone to his own Self. That is why they say he is in deep sleep (*svapiti)*; it is because he has gone (*apita*) to his own (*svam*)".

Śaṅkara in his commentary on 6.8.1 says: *svapna* is the process of seeing. *anta* means center. So, *svapnānta (svapna-anta)* means the core of the process of seeing, which is deep sleep. *Svapnānta* may also mean the essence of the process of dream. This means that man in deep sleep, attains his Self. When a mirror is taken away, the reflection of a therein attains, so to say, the man himself. The Supreme deity too has similarly 'entered' the mind, breath and speech as a man 'enters' a mirror. In this (deep sleep) state the Self returns to his true nature. Thus, people say that he sleeps (*svapiti*), since at that time he returns to his own Self (*svam apita bhavati*)[23].

During the waking state one becomes tired from various experiences in the shape of happiness and sorrow, attachment and aversion, delusions and other thoughts. In deep sleep all the senses are drawn in by the *prāṇa* (breath), which alone 'lies awake in the nest of the body'. As the fatigue of the waking state can not be shaken off by any other means than withdrawal into one's own Self, an analogy is given to explain that the Self in deep sleep realizes Brahman.

"Just as a bird tied to a string flies from one direction to another but, finding no place of rest, comes back finally to rest where it is tied, so also the mind, my son, flies from one direction to another but finding no place of rest comes back finally to rest in breath, for mind is tied to breath" (6.8.2)[24]

The *Chāndogya Upaniṣad* (6.8.1) says that in the state of deep sleep the person has become "full" "complete" "perfected" or "serene" (*sampanna*), and that he has "gone to his own" (*svamapita*). The term "*sampanna"* is also used in *Chāndogya* 8.11-12 in a way which clearly precludes its meaning "being" (*sat*). The *Upaniṣad* in 6.8.2 goes on to say that in the state of deep sleep the mind rests upon the breath (*praṇa*), and this is clearly not regarded as the ultimate or highest state. Because in 6.8.6-7[25] it says:

"When a man is dying, his speech merges into his mind, his mind into breath, his breath into fire (*tejas*) and fire into the highest divinity (*parasyam devatayam*) i.e. Being. That which is the finest essence that all this has as its Self. That is reality (*satya*). That is the Self. You are that (*tattvam asi*), *Ś*vetaketu"

The *Chāndogya Upaniṣad* in 6.8, 8.6 and 8.11-12 analyze the deep sleep state which is internally consistent and also incompatible with the interpretation of the *Māṇḍūkya Upaniṣad* i.e.,the deep sleep state of the Self (*Prājña)* with *Īśvara*. For it would appear to make no sense to associate the state in which one "does not know himself" and in which one has "gone to destruction" with the Omniscient, Omnipotent *Īśvara* which is described in 6thverse of *Māṇḍūkya Upaniṣad*. According to the *Chāndogya Upaniṣad*, the state of deep sleep is simply one of the three states of the embodied Self, and not a particularly desirable one at that.[26]

The names of the Self in the three states (*Viśva, Taijasa* and *Prājña*)employed in the *Māṇḍūkya Upaniṣad* and the *Gauḍapādakārikā* are not found in the *Bṛhadāraṇyaka andChāndogya Upaniṣads*; but the *Upaniṣadic* essence is the same. The *ChāndogyaUpaniṣad* calls the Self of the waking state *ākṣipuruṣa* (8.7.4) or *cakṣusa-puruṣa* (8.12.4), meaning 'the person that is seen in the eye'. *Śaṅ*kara in his commentary on the *Chāndogya Upaniṣad* refers to it by the terms *chayāpuruṣa* (8.12.4) and *chayā-ātman* (shadow- Self) as well (8.8.2). For the dream state (*Taijasa*) in *Māṇḍūkya* he assigns the name *svapnātman,* the dream Self (8.10.1) and for *Prājña* the name *suṣuptastha* (8.11.1-2). The Self is the same in these three states. The *Chāndogya Upaniṣad* describes the *Caturtha* or *Turīya* of the *Māṇḍūkya* as *uttama puruṣa* (8.12.3), the supreme Self. Its nature may be well understood by realizing the significance of the state of deep sleep. As the *Chāndogya* puts it, everyday we have this precious experience, without knowing its meaning, 'as people who do not know the exact spot where a treasure of gold has been hidden in the earth, walk over it again and again without finding it, so all these creatures day after day go into the supreme Self and yet do not find it, because the true knowledge of the Self veiled by ignorance (8.3.2).

Conclusion: Thus, it has been established that Consciousness is not an object of knowledge, as it is free from all conditioning adjuncts (*upādhis*). It has neither generic nor specific characteristics because it is one without the a second. Self-luminosity is the defining principle of Consciousness. It is described in the *Upaniṣads* as *prakāśa eka raśa*, meaning that which has light/knowledge as its only essence. Consciousness is described as 'the light of lights'(*jyotisām jyotiḥ*) as the ultimate presupposition of all knowledge.

Consciousness is trans-empirical, trans-relational and beyond discourse, image and symbol. It is sleepless(*anidram*), dreamless (*asvapanam*), nameless, formless, ever effulgent and omniscient. It has neither antecedent nor consequent(*apūrvam aparam*), neither outside nor inside (*abāhyam anantaram*), neither birth, nor motion (*ajaṁ, achalam*). Being subtlest of the subtle, the Self/Consciousness remains ever unaffected, unqualified, untouched by the phenomenal universe. Consciousness is not in contact with objects nor is it in contact with the appearances of objects. Therefore, it is not born, nor things perceived by it are born.

Consciousness is ever pure, ever conscious and ever free (*nitya-śuddha-buddha-mukta*). It is peaceful (*śānta*), the auspicious (*śiva*), and the non-dual (*advaita*), Self. It is the essence of the knowledge of one's Self (*ekātmapratyasāra*). Knowing the Self is like perceiving Consciousness in Consciousness.

Footnote

1. Madhavananda Swami, *The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad,With the Commentary of Śaṅkarācārya*, Translated, (Kolkata : Advaita Ashrama, 2008), 193.
2. Ibid., 194.
3. Ibid., 196.
4. Ibid., 198.
5. Ibid., 420-21.
6. Ibid., 420.
7. Ibid., 421.
8. MadhavanandaSwami, Trans. *The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, 421. All the translations of this *Upaniṣad* in this paper are from this text.
9. Ibid., 449-52.
10. Ibid., 426-7.
11. Ibid., 429.
12. Ibid., 430.
13. Ibid.
14. Ibid., 430-1
15. Ibid., 454.

16. Madhavananda Swami, Trans. *The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, 327.
17. Ibid., 462-3.
18. Ibid., 467-72.
19. Som Raj Gupta, *The Word Speaks to the Faustian Man*, Vol. 4, (Delhi: Motilal Banarsidass 2001), 711.
20. Ibid., 729-30.
21. Ibid., 733.
22. Ibid., 736-37.
23. Ibid., 525.
24. Ibid., 531.
25. Ibid., 540-43.
26. Thomas E. Wood, *TheMāṇḍūkya Upanisad and the Āgama Śāstra, An Investigation intothe Meaning of the Vedānta*, (Delhi: Motilal Banarsi Dass, 1992), 59.

References:

1. Balasubramanian, R. *Phenomenology of Consciousness.* Consciousness Series: 6, New Delhi: ICPR, 2003.
2. Deussen, Paul. *The Philosophy of the Upaniṣads*. Delhi: Banarsi Das & Co., 1906.
3. Gupta, Som Raj. *The Word Speaks to the Faustian Man.* Vol. 1-6. Delhi: Motilal Banarsidass, 1995.
4. Fort, Andrew O. *The Self and Its States.* Delhi: Motilal Banarsidass, 1990.
5. Mādhavananda, Swami. trans. *The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad: With the Commentary of Śaṅkarācārya.* Mayavati, Almora: Advaita Ashrama, 1950.
6. Mahadevan, T.M.P. *The Philosophy of Advaita.* Delhi Bhartiya Kala Prakashan, 2006.
7. Nikhilananda, Swami. trans. *The Māṇḍūkya Upaniṣad with Gauḍapāda's Kārikā and Śaṅkara's Commentary*. Calcutta: Advaita Ashrama, 2000.
8. Radhakrishnan, S. *The Principal Upaniṣads*. London: George Allen and Unwin, 1953.
9. Wood, Thomas, E. The *Māṇḍūkya Upaniṣad and the Āgama Śāstra: An investigation into the Meaning of the Vedanta.* Delhi: Motilal Banarsidass, 1992.

Associate Professor,
Department of Philosophy
Daulat Ram College, University of Delhi
Email : vsujataraju@yahoo.com
Mob. 8800583456
Res. : 158 Sahyog Apartment,
Mayur Vihar Phase-I
Delhi.-110091

The Significance of Sacrifice in Hinduism

Dr. Monica Prabhakar

Abstract

One distinctive feature of the ancient Vedic period and the Epic Period in comparison to the later ages is the significance attached to sacrifice. In the Vedic times, men composed mantras in admiration of the various manifestations of nature. They deified the various spectacles of nature, and worshipped them giving the designation of Indra or Varuna, or Agni or the Marutas. This worship took the form of sacrifice. Oblationsof different kinds were made to these deities. Gradually with time and unfortunate invasions into the culture of India the Vedic ritualistic tradition got lost. In the name of Hinduism infinite divisions creeped into the social fabric of India. As a result, Vedic ceremonialsand sacrifices got replaced by insignificant, improper and unscientific practices. The purpose of my paper is to go back in time and understand the significance and importance of sacrifice in the culturally vibrant Hindu Society.

Introduction

From the beginning of the world till today Man has always been afflicted with his unquenchable desires, his greed and his acquisitiveness.The materialistic attitude is the cause of *Dukkha* that has penetrated into him and like a rudderless ship he wanders not knowing the purpose of his life. All he needs is the correct vision to see the path of peace and happiness. And this he can attain by realizing that he is a dependent rational animal. His existence and survival are part of the social fabric and environment to which he belongs.

The Ṛg Veda (X,117) statesHe who nourishes neither the god nor a friend, he who eats alone, accrues sin.This miserly man can never find happiness. His selfish accumulation is indeed his death. He gets swallowed by his own hunger. However, the respite comes when he turns his attention from matter to divinity. And it comes about through the practice of *dāna* or sacrifice. *Dāna* means giving up what is held dear for the sake of the divine who remains present in all, all the time. The Bhagavadgītā also says "The good people who eat what is left from sacrifice are released from all sins but those wicked people who prepare food for their own sake – verily they eat sin"(III.13)

Tyāga or giving up what is dear is the essence of *dāna* and *dāna* is an essential component of *Dharma*. By practicing *dharma,* one enjoys a complete life on the planet earth. The ancient Hindu scriptures have declared the significance of performing sacrifices as they are considered as having a divine origin. The idea behind their performance is to make an appeal to the deitiesto grant the good of all-- universal good.

The sacrificial practices are sometimes wrongly identified as violent acts against animals that are sacrificed. But I must clarify that animal sacrifice existed only among a particular cult of sacrificers called the *Nirūḍhapaśubandha*. The*Nirūḍhapaśubandha yāga,* however are outside the scope of my paper.

Tyāga* Embedded in the notion of *Dāna

Kaṭha Upaniṣad emphasises the importance *tyāga* which culminates in getting to that transcendent level where there is realization of the identity between *atman* and *Brahman*. Thisis beautifully explicated in the journey of Nachiketa from the feeling of remorse for what his father did and the acquisition of knowledge through his dialogue with Yama.

Vājasravasa, father of Nachiketa performed a great sacrifice to attain the highest. The sacrifice demanded that he should distribute his possessions wholeheartedly and to the best of his ability to the men of wisdom. His son Nachiketa, who was about 15 or 16 years old witnessed that his father was not doing his job honestly. He was distributing stuff but only that which he did not require for himself. He was for example giving away cows but the ones which were old and diseased and thus of no use to anybody. Nachiketa realized that whole sacrifice would be fruitless if the promise of sacrifice was not kept. So, he went to his father and said, 'I am your greatest possession, to whom will you give me?' the father did not answer. So, he repeated the same question again and again. Now the father in extreme anger said, 'I give you to Yama, to death'. Nachiketa believing what his father said went to *pretaloka*, abode of death. Yama was not there that time so Nachiketa waited for three days and three nights. He did not get any food to eat or anything to drink. And when Yama returned, he saw this young boy waiting outside his home.

He was sad to see the state of Nachiketa. For if a guest remains unattended, the virtues and the good fortune of the host are all lost. Yama therefore asked Nachiketa to make three wishes so that he could retrieve his virtues and luck. In answer to this Nachiketa made the first wish in which he asked for his father's peace of mind. His wish was granted. In his second wish Nachiketa asked Yama about that sacrifice by which humans could attain heaven. This wish too was granted by Yama. In his third wish Nachiketa wanted to know about the mystery of death. Yama did not want to answer as he was unsure about the mental qualifications of Nachiketa. So, he tested Nachiketa by giving him various kinds of temptations. He used many techniques to dissuade him from

asking the question of death. But ultimately, he gave in to the steadfastness of the spiritual seeker in Nachiketa. Yama said to him that the knowledge of what happens after death is far more valuable than anything in the world. And that knowledge is the knowledge of *Brahman*.

The Upaniṣad says that *Brahman* cannot be known by him who is devoid of the strength of character or who is not careful in his thoughts and who has no spirit of *tyāga* or renunciation along with his knowledge.The Divine Self which is hidden in all beings can be seen only by those men of keen vision with their sharp one-pointed intellectthrough the *mahāvākya* '*Tat Tvam Asi*' or 'thou art that'which means there is no distinction between *jivātma* and *paramātma*.

Tyāga* embedded in the notion of *Yajña

Vedic religious practices differ radically from the religious practices followed by other religions like Buddhism, Jainism, Christianity, Islam, Judaism etc. except for praying and worshipping, that are common to all. However, the form of prayer and worship that is prescribed in the *Mantras* and *Brahmanas*of the four Vedaspertains to the performance of *Yajña*.

Yajña comes from the root '*yaj*' which means 'to worship'. Although difficult to translate but the closest English word for it is 'Sacrifice'. It is the act of relinquishing. It is aboutgiving up one's ownership of something for the sake of gods. *Yajña* is either done on an occasion or it is performed daily, sometimes it is optional while at other times obligatory. The nature and value of the offering is not important. The offerings may vary fromelaborate ones like an animal; the juice of the Soma-plant to moderate ones like rice cake;pulses; mixed milk; to the modest ones like butter, flour, and milk.These offerings are made to a ritually lit fire.

The ĪśāUpaniṣad begins with the announcement "the entire universe is pervaded by the *Paramātman*. One must protect oneself from attachment and enjoy everything with the spirit of renunciation. Only by accomplishing a Sacrifice such as the *Agnihotra* should one wish to live for a hundred years." (1.2) What this means is that Supreme God resides in each and every particle of this universe. Everything belongs to Him. One eats what He bestows, drinks what He dispenses, uses and operates with what He provides. Man can enjoy the material world only by understanding that the apparent possessions are unreal.Wisdom lies in detachment and in *yajña*.*Yajña*consecratesall our consumptions in this world because we live with the realization that all that we eat, drink, use and possess are the leftovers of God.

The Bhagavadgītā also prescribes a transformation of all our duties, social and moral and even our way of living into an uninterrupted inner worship and sacrifice. Performance of sacrifices leads to the purification of mind and body as well as the upliftment of inner Self which is permeated by the divine. In chapter IV Sri Kṛṣṇa

distinguishes four kinds of *Yajña* performed by people in accordance with their*svabhāva*, motivations, *karmas*, occupations, goals, and *samskāras*. They are:

a. Sacrifice of one's own wealth (*DravyaYajña*): In ancient times grains were offered in sacrifice as they signified material wealth. Offering of this material wealth to another meant putting *āhūti* in the fire and kindling it by improving the life of the other.
b. Sacrifice ofausterities (*Tapo Yajña*): This is about sacrificing physical comforts. As an *āhūti* the sacrificer offers one's own body. He kindles the *Yajña* fire by working tirelessly for the well-being of another.
c. Sacrifice of breathing (*Yoga Yajña*): This sacrifice is superior to both the material and physical sacrifices. As in this sacrifice the *āhūti* pertains to one's spiritual practice through which the sacrificer kindles the fire by facilitating the spiritual upliftment of another.
d. Sacrifice of knowledge (*Jñāna Yajña*): This is the highest form of sacrifice. In this sacrifice the *āhūti* is ones *avidyā*into the fire of wisdom. By this offering one attains Self-realization and radiates with bliss. Such a realized Self then works for the Spiritual unfoldment of others.

In chapter VIII of the Bhagavadgītā in answer to Arjuna's query about the truth of *sanyāsa* (renunciation) and *tyāga* (relinquishment), Sri Kṛṣṇa distinguishes three types of *tyāga*: *sāttvika*, *rājasika* and *tāmasika*. And he says that it is only the *sāttvika tyāga*which is about doing one's prescribed duty simply for the sake of duty without any streak of attachment to the fruits is commendable. Adherence to *sattvic tyāga* is the trait of a true *yogi*.

And this is the greatest contribution of the Bhagavadgītā. It propagates the idea that all work can become worship if the fruits of the action are dedicated to God. And in this idea is embedded the intention that renunciation and liberation can come from doing one's socially prescribed duties with detachment.

One may also noticethe ideaof sacrifice that is expounded in the Kauṣītakī Upaniṣad. In ancient times, sages in their complete and unbroken mindfulness, performed *Agnihotra* sacrifice in their own life-force inside their bodies. While speaking, they would offer their breath as an oblation to the Speech deity; and in their silence, they would offer the gift of Speech to the Breathdeity. In this way they would not spend a single moment without sacrifice. The Bhagavadgītā also brings home the same point as mentioned earlier whatever one does, whatever one eats, whatever one gives, whatever one strives for, offer it to God. One cannot give up actions, but one can sacrificially offer the results of the action to God.

Performance of *Yajñas* Rooted in Hindu Society

The Sacrificial practice is an ecological cycle which involves the act of sacrifice through smoke that goes to the clouds brings rain which nourishes of the soil. Nourished soil produces grains and grains transform into food which sustains human beings, who again perform further sacrifices. This is the Vedic idea.

As many as four hundred sacrifices are mentioned in the Vedas. Of these *Aupasana* sacrifice is prescribed for all *varṇas*. The fire of this sacrifice is meant to keep away all evil spirits and afflictions. Other sacrifices are however not mandatory for all the *varṇas*. It is important to note that not all sacrifices are to be performed by brahmins. But the three fires to which a brahmin is supposed to offer daily oblations are the domestic, theancestral and the heavenly. With the domestic,one purifies one's food.With the ancestral, oneacquiesces to one's debts to the forefathers.And with the heavenly, one offers gifts to the divinities.

There is significance of fire rites for the brahmacāris also in the Vedic tradition. The scriptures state that the brahmacāris in the *gurukul* must perform fire rites daily. The performance of fire rites involves the collection of three faggots, already discarded by the tree. The three faggots represent *pṛthvi* (earth), *dyauh* (sun) and *antarikṣa* (cosmos). Fire also has three forms namely, *agni*, *angira* and *jātaveda*. While offering oblations the brahmacāris must chant simultaneously four mantras. The first mantra is addressed to *agni*, the second and third to *angira* and the fourth to *jātaveda*. It is most appropriate when the brahmacāris offer oblations to the three fires with three faggots three times.

As a matter of fact, the act of initiation also is linked to the act of performing fire rites. Witness:

He (Satyakāma), having approached Haridrumata Gautama, said, 'I shall live as a celibate with you, the worshipful one. Therefore, I have come to you, the venerable one.'… To him he (Haridrumata Gautama) said, … 'Fetch faggots, my boy for the fire rites'. Having said this, he initiated him. (Ch. UP. IV.5)

Through these fire rites, the celibate sheds his ego before his *guru* and offers himself completely to him. The *guru* on his part like a mother conceives, keeps him in his womb until the disciple acquires knowledge.

The three Faggots have another significance too. The first faggot represents sacrifice of one's body. The pupil offers his body in the form of the first faggot into the fire, he in return enables himself to get enlightened about the physical realm. The second faggot represents sacrifice of one's mind. When the pupil offers his mind in the form of the second faggot, he enables himself to get enlightened about the subtle and the mental realm. The third faggot represents the inner self. When the pupil offers himself in the form of the third faggot, he enables himself to get enlightened about the spiritual realm.

And thus, with these sacrifices his physical, mental and spiritual upliftment becomes possible.

Conclusion

The Vedic scriptures regard *Agni*, the fire god as the eternal messenger between human beings and divinity. Performing fire rites brings equilibrium in nature, general well-being and enhances the quality, value and extent of life.It is quite unfortunate that the western world regards the early Vedic religion as unrefined, covetous, materialistic, appalling, violent, animistic worship of natural forces etc. As a matter of fact, the principles of life, godliness and reverencefor all elements surrounding us is present in every layer of Vedic, Puranic and Tantric literature and practice, from antiquity to modernity. And there is nothing unphilosophical about the so-called polytheism and idolatry of the Vedic, Puranic, Tantric traditions. The worship of thousands of deitiesis not antitheticalto there being only one Supreme Being—*ekam sat*—whoenables the other divinities to shine.Large number of deities assure divinification of the universe, of omnipresence of the spark of life and consciousness even in the meanest, and the most material thing.Researchers in Western Universities with crooked thought process without themselves ever performing or participating in a Vedic prayer or a *yajña* arbitrarily imagineit to be fruitless and a sign of primitiveness. Infact, Vedic sacrifices permeate the life of man, starting at the stage of conception and ending in cremation. That is why cremation is called the last sacrifice:*antyeṣṭi*.The dead offers back all that it took from the universe—earth, water, fire, air and ether.

References

Deussen, Paul (1997). *Sixty Upanishads of the Veda*. Vol. 2. Translated by Bedekar, V.M.; Palsule, G.B. Motilal Banarsidass.

Easwaran, Eknath (2007), *The Upanishads*, Nilgiri Press.

Rajbali Pandey (2013), *Hindu Saṁskāras: Socio-religious Study of the Hindu Sacraments*, 2nd Edition, Motilal Banarsidass.

Carl Olson (2007), *The Many Colors of Hinduism: A Thematic-historical Introduction*, Rutgers University Press.

Gambhirananda (Swami) (1983) *Chāndogya Upaniṣad*, Calcutta: Advaita Ashrama.

J Fowler (1996), *Hinduism: Beliefs and Practices*, Sussex Academic Press.

Joshi, Kireet (1994), *The Veda and Indian culture: an introductory essay*, Motilal Banarsidass.

Monier Williams, *Sanskrit English Dictionary,* Cologne Sanskrit Digital Lexicon, Germany.

Krishnananda (Swami). *A Short History of Religious and Philosophic Thought in India. Divine Life Society*, Rishikesh.

Nigal, S.G. (1986) *Axiological Approach to the Vedas*. Northern Book Centre.

Olivelle, Patrick (1998). *The Early Upanisads*. Oxford University Press.

Radhakrishnan, S. 2014. *The Bhagavadgītā*. Noida, Uttar Pradesh, India: HarperCollins.

Raju, P. T. (1992), *The Philosophical Traditions of India*, Delhi: Motilal Banarsidass.

The Rig Veda The complete Rig Veda in English translation at holybooks.com.

Sharma, T. R. S. (ed.). 2000. *Ancient Indian Literature: An Anthology*, *Volume Two*. New Delhi: Sahitya Akademi.

Sri Aurobindo (1998), *The Secret of Veda* Sri Aurobindo Ashram press

Vedananda (Swami). (1993) *Aum Hindutvam:* (daily Religious Rites of the Hindus). Motilal Banarsidass.

Associate Professor,
Department of Philosophy,
Daulat Ram College,
University of Delhi,
Delhi, India.
Resi. H-5/10 Malviya Nagar,
New Delhi-110057
Email. monica_prabhakar@Yahoo.com
Mob. 9810527490

Concept of Psychosocial Well-being in Yoga Sūtras of Patañjali

Aswini Sham Tikhe, Dr. Akhilesh Kumar Singh and Dr. Sham Ganpat Tikhe

Abstract

Wellness is a general sense of well-being in psychological and social domains - the opportunity to be and to do what most need and value. It is the state or condition of being in good psychological and social health. Psychosocial wellness (PSW) is a superordinate construct that includes psychological well-being, as well as social and collective well-being. Yogic practices are known to play a significant role in the effective management of psychosocial illnesses (PSI). Patañjali Yoga Sūtra (PYS) provides a practical philosophy and applied science of life with all the necessary concomitant processes, tools, and techniques to enhance and develop PSW. The PYS explains the distractions of the mind, their symptoms, and methods to overcome them. The PSW concepts available in PYS offer very sound guidelines for harmonious material life and also a solid launching pad for higher, spiritual, transcendental life. Similarly, these concepts are associated with synchronizing the mind and body with the Self. The present study shows that the PSW concepts of PYS are holistic in nature. They may be interpreted under the frame of mental health and can be used in modern psychotherapeutic processes for managing PSI. It may be suggested that Yoga practitioners may develop these therapeutic aspects of PSW in curative, preventive, and promotive ways in relation to wellness.

Keywords

Yoga, wellness, illnesses, mental health, psychosocial domain

Introduction

Wellness is the state or condition of being in good physical and mental health whereas illness is a disease or sickness affecting the body or mind. Psychosocial wellness (PSW) is a superordinate construct that includes psychological well-being, as well as social and collective well-being.[1] The term PSW is used in this study as an umbrella term comprising the experience of psychological, emotional, cognitive, spiritual, existential, relational, familial, and social functioning of a person. In clinical practice and

research, the PSW is measured on the basis of the above components, and with the degree to which supportive care needs are experienced. Similarly, PSW is also frequently conceptualized and measured as a whole in terms of 'quality of life'[2], or 'health-related quality of life'[3]. The PSW is defined as a state of good health-related quality of life that is free from depression and behavioural or emotional or social problems.[4]

Yoga practices may play a significant role in the treatment and prevention of psychosocial illnesses (PSI).[5] The Patañjali Yoga Sūtra (PYS)[6] provides a practical philosophy and applied science of life with all the necessary concomitant processes, tools, and techniques of PSW for the management of PSI. The PYS explains the distractions of the mind, their symptoms, and methods of PSW to overcome them. The concepts of PSW available in PYS offer very sound guidelines for harmonious material life and also a solid launching pad for higher, spiritual, transcendental life. These concepts are associated with synchronizing the mind and body with the Self. The Yoga practitioner can develop these concepts in curative, preventive, and promotive ways in relation to wellness. There are many PSW concepts available in PYS that are parallel to and resemble concepts that are present in psychology and sociology. The Citta as described in PYS is said to be comprised of the conscious, subconscious, and unconscious. The PYS believes that self-realization can take place only when the Citta Vṛttis (mental modifications) cease their activities.

An understanding of the concept of trance in PYS was reported by Chowdhary and Gopinath through a thematic analysis of the book Four Chapters on Freedom by Swami Satyananda Saraswati.[7] Many Yoga therapists have limited training in Research Literacy skills, which negatively impacts inter-professional communication and collaboration, as well as further advancement of Yoga therapy research and practice. Therefore, it was proposed to include Research Literacy skills and Evidence-Informed Practice based on PYS in the training of Yoga therapists.[8] A theoretical-hermeneutic study was conducted, in which PSW concepts of PYS were interpreted from the standpoint of mental health. It was revealed that the values found in the texts can enrich the existing practices of Yoga for Primary Health Care (PHC) users (who suffer from afflictions inherent to life) by providing ideas and guidelines that promote a sense of liberation from suffering. Such values and ethical principles of PSW discussed in PYS can be incorporated into the discussions in PHC and psychosocial care, such as the reduction of iatrogenic disorders and unnecessary medication (quaternary prevention). Similarly, these concepts of PSW may also contribute to the stimulation of empathy and participation of users in care, with their subjective repositioning, multiplying autonomous ways of managing to suffer, and building networks of psychosocial support. Furthermore, these values of PSW discussed in PYS may be present in various domains of PHC, which might provide a broader understanding of what 'the practice of Yoga' means.[9] A descriptive review focusing on trends of treatments required for postoperative coronary artery bypass graft surgery

(CABG) patients to improve their quality of life was reported by Eraballi and Pradhan.[5] In this study, the sources of literary research to understand the concepts of coronary artery disease according to Indian scriptures were Ayurveda texts, Bhagavad Gita, and PYS. As per new research techniques, surgery, physiotherapy rehabilitation, and Yoga are serving CABG patients' medical and psychological health better.[10] Furthermore, it was reported that the meditation technique of PSW discussed in PYS increases the membrane potential of neurons and other body cells and reduces the activity of the amygdala and cortical areas.[11]

Concepts of PSI in PYS

According to PYS, the concepts of PSI are:

1. **Antarāya (the nine obstacles or disturbances which distract and trouble the mind)**

   PYS lists nine obstacles or Antarāyas (PYS I/30).[6] They are (1) Vyādhi (disease), (2) Styāna (dullness), (3) Saṁśaya (doubt), (4) Pramāda (carelessness), (5) Ālasya (laziness), (6) Avirati (a highly stubborn attachment or liking), (7) Bhrāntidarśana (false perception), (8) Alabdhabhūmikatva (failing to attain stages of practice), and (9) Anavastitatva (inability to maintain). It is observed that nearly all Antarāyas (PSI) listed by Patañjali are due to the inherent unsteadiness of the mind which cause Vikṣepa (distractions) and hinder the progress of the Yogī in the practice of Dhāraṇā (PYS III/1), Dhyāna (PYS III/2), and Samādhi (PYS III/3). These Antarāyas are the nine obstacles presented as Cittavikṣepāḥ which distract and trouble the mind and prevent clear perception.

2. **Vikşepasahabhuva (the accompanying symptoms of PSI)**

   The PYS deal with the five types of Vikşepasahabhuva (PYS I/31),[6] the accompanying symptoms of PSI: (1) Duḥkha (sorrow), (2) Daurmanasya (mental distress), (3) Añgamejayatva (tremor of the body), (4) Śvāsa (irregular inhalation) and (5) Praśvāsa (irregular exhalation). These are the symptoms of a distracted condition of the mind and they do not appear when the mind is calm and peaceful.

3. **Kleśa (the root cause of all the PSI)**

   The PYS presents the concept of **Kleśa,** the root cause of all the PSI (PYS II/3):[6] (1) Avidyā-ignorance (PYS II/5), (2) **Asmitā-**egoism (PYS II/6), (3**) Rāga-**attachment (PYS II/7), (4) **Dveṣa-**aversion (PYS II/8), and (5) **Abhiniveśa-**clinging to life (PYS II/9). These are the five pains, the fivefold tie that binds us down. **Avidyā** (ignorance) is the mother of all the rest and is the only cause of all our misery. (PYS II/4)

4. Kliṣṭa Vṛttis (painful modifications)

There are five classes of Vṛttis (modifications, PYS I/6),[6] some are painful (Kliṣṭa) and others are not painful (Akliṣṭa). They are (1) Pramāṇa (right knowledge, PYS I/7), (2) Viparyaya (indiscrimination, PYS I/8), (3) Vikalpa (verbal delusion, PYS I/9), (4) Nidrā (sleep, PYS I/10) and (5) Smṛti (memory, PYS I/11). These Kliṣṭa Vṛttis (Painful modifications) are also part of PSI as it is recommended to be controlled (PYS I/12) by Abhyāsa (practice, PYS I/13,14) and Vairāgya (non-attachment, PYS I/15) that leads to enhancement of PSW (Tadā draṣṭuḥ svarūpe avasthānam- the draṣṭā or seer or Puruṣa rests in his own unmodified state, PYS I/3).

Concepts of PSW for managing PSI in PYS

To manage PSI effectively, Patañjali explains the following concepts of PSW in PYS:[6]

1. **Abhyāsa** (tatra sthitau yatno-'bhyāsaḥ) - continuous struggle to keep the Vrttis perfectly restrained is practice or Abhyāsa. (PYS I/13)
2. **Vairāgya** (drṣṭa-anuśravika-viṣaya-vitṛṣṇasya vaśīkāra-saṁjṇā vairāgyam) - that effort, which comes to those who have given up their thirst after objects either seen or heard and which wills to control the objects, is non-attachment or Vairāgya. (PYS I/15)
3. **Praṇavajapa** (taj-japaḥ tad-artha-bhāvanam) - the repetition of Praṇava and meditating on its meaning is the way to attain Samādhi. (PYS I/28)
4. **Eka-tattva-abhyāsaḥ** - the practice of a single subject. (PYS I/32)
5. **Cittaprasādanam** - Maitrī karuṇā mudito-pekṣāṇāṁ-sukha-duḥkha puṇya-apuṇya-viṣayāṇāṁ bhāvanātaḥ citta-prasādanam - the mind becomes peaceful (Cittaprasādanam) by practicing friendship over happy, kindness over unhappy, gladness over good and indifference over evil. (PYS I/33)
6. The concept of **pracchardana vidhāraṇābhyāṁ vā prāṇasya** - or by throwing out and restraining the breath. (PYS I/34)
7. The concept of **viṣayavatī vā pravṛttiḥ utpannā manasaḥ sthiti nibandhanī** - or by fixing the mind on a single modification generated by the sensory objects. (PYS I/35)
8. The concept of **viśokā vā jyotiṣmatī** - or by the meditation on the effulgent one which is beyond all sorrow. (PYS I/36)
9. The concept of **vītarāga viṣayaṁ vā cittam** - or by meditation on the heart that has given up all attachment to sense objects. (PYS I/37)
10. The concept of **svapna nidrā jñāna ālambanaṁ vā** - or by meditating on the knowledge that comes in sleep. (PYS I/38)

11. The concept of **yathābhimata dhyānāt vā** - or by meditation on anything that appeals to one as good. (PYS I/39)
12. **Kriyāyoga** (PYS II/1) - The Yoga of action with awareness or practical Yoga (Kriyāyoga) is: Tapaḥ (austerity or mortification), Svādhyāya (self-study), and Īśvarapraṇidhāna (surrendering fruits of work to God).
13. **Vivekakhyāti** (Vivekakhyātiḥ aviplavā hānopāyaḥ) - the means of destruction of ignorance is the unbroken practice of discrimination. (PYS II/26)
14. **Aṣṭāṁga Yoga:** The PYS offers eight-limbed model, Aṣṭāṁga Yoga: Yama (Ahiṁsā, Satya, Asteya, Brahmacarya, Aparigraha), Niyama (Śauca, Saṁtoṣa, Tapaḥ, Svādhyāya, Īśvarapraṇidhāna), Āsana, Prāṇāyāma, Pratyāhāra, Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi. (PYS II/29)
15. **Pratipakṣabhāvanā:** It is cultivating positive thoughts every time a negative thought enters the mind. Pratipakṣa means opposite and Bhāvanā means emotion/sentiment. (PYS III/34)
16. **Saṁyama** (Trayam ekatra saṁyamaḥ) - when Dhāraṇā, Dhyāna, and Samādhi practiced in regard to one object is Saṁyama. (PYS III/4)
17. **Janmauṣadhi-mantra-tapaḥ-samādhi-jāḥ siddhayaḥ** - the subtler attainments come with birth or are attained through herbs, Mantra, austerities, or Samādhi. (PYS IV/1)
18. **Kaivalya:** Puruṣa-artha-śūnyānāṁ guṇānāṁ-pratiprasavaḥ kaivalyaṁ svarūpa-pratiṣṭhā vā citiśaktiriti - the ultimate goal of Yoga, the isolation of Puruṣa from Prakṛti. In other words, it is absolute consciousness established in its own self. (PYS IV/34)

Patañjali refers Yoga as "Kriyā Yoga" (PYS II/1):[6] the "Yoga of action with awareness". It clearly explains how to apply Patañjali's profound philosophical and psychosocial teachings in everyday life, in any situation with unique methods of practice (Abhyāsa- PYS I/13) and non-attachment (Vairāgya- PYS I/15). Until now, many practitioners have treated it as a philosophical reference, and have largely ignored its implications for PSW. They have also ignored the fact that it is also an esoteric work and that only initiates, with sufficient prior experience, can grasp its deeper meaning. These aspects of PSW discussed in PYS may be useful to understand and apply the preventive, promotive, and curative aspects of Yoga in the present life. Yogic practices in the form of PSW as mentioned in PYS are being extensively used as therapeutic ingredients, alone or as adjuncts to other therapies in a variety of disorders, both physical and mental.[5,10] There is strong evidence to suggest that PSW concepts discussed in PYS are beneficial in several lifestyle disorders.[11]

Samādhi (one of the concepts of PSW discussed in PYS) is the altered state of consciousness or trance state of Yoga. Its psychosocial relevance is Sat-Cit-Ānanda: truth-consciousness-bliss. This relates to a different realm of experience which is possible to describe only by metaphors and paradoxes.[12] According to PYS, Samādhi is the goal of Yoga. It can be defined as the pointless point of consciousness beyond which nothing else remains. (Tadeva arthamātranirbhāsaṁ svarūpaśūnyam iva Samādhi, PYS III/3)[6] It is the deepest level of consciousness where even the sense of individuality does not remain. Similarly, Samādhi comes through years of training and thus is more natural and would involve long-term changes in the brain that can sustain the state closest to pure awareness and not affected by the modulations and activity of the mind. [13]

The mental modifications (Citta Vṛttis- PYS I/6) that influence the perception of reality as explained in the PYS; and the PSW techniques allow access to processes below the threshold of awareness, which helps in the restricting of non-conscious cognitions.

The PSW concepts described in the PYS for therapeutic benefits induce relaxation, which is effective in reducing anxiety. It also promotes ego strengthening through the repetition of positive suggestions to oneself that get embedded in the unconscious mind. These then exert an automatic influence on feelings, thoughts, and behaviors. This enhances one's self-confidence and self-worth. The PSW concepts discussed in PYS facilitate divergent thinking, it maximizes awareness among several levels of brain functioning. They have a direct impact on the focus of attention and concentration.[14] They also help in directing attention to wider experiences such as feelings of warmth, feeling happy, feeling of contentment, and a general feeling of well-being.[15] They serve to expand these experiences in the present, past, and future. These facilitate the reconstruction of dysfunctional realities. The PSW concepts discussed in PYS are holistic in nature. They are related to mental health promotion and can be used in modern psychotherapeutic processes.[16] The PSW concepts discussed in PYS are related to the conceptualization of consciousness, altered state of consciousness, and the therapeutic benefits and the therapy process.[7] The PSW concepts discussed in PYS are closely linked to faith and hence it makes sense to make use of the traditional therapeutic modalities in the modern therapeutic paradigm. [17] The PSW concepts discussed in PYS are aimed at reducing the modulations of the mind and removing the seeds or impressions in the memory which cause the mind to go into the modulations again and again. Through consistent practice of the PSW concepts discussed in PYS, the modulations of the mind get more and more restrained, which results in better concentration, an increase in joy, and the feeling of oneness with the world. Understanding the modulations of the mind as specified in the PYS can help us detect a true resting state which would be free of imagination, mind wandering, and other modulations. In such a state the overall default mode network activity would be reduced as compared to the 'normal' resting state and explicit intrinsic processing paradigms.[18]

The PSW concepts discussed in PYS may be interpreted under the frame of mental health.[9] The values found in the scripture can enrich the currently existing PSW practices. Similarly, Yama and Niyama (two important PSW concepts proposed by Patañjali) deal with the values and ethical principles that the person must establish with himself and with the social environment for the development of greater mental tranquillity. They generate transformations not only in the individual but also at the social level.[9]

The concepts of Heya, Heyahetu, Hāna, and Hānopāya for enhancing PSW

Patañjali coins four terms to enhance the PSW i.e. **Heya, Heyahetu, Hāna, and Hānopāya**.[6]

Heya (PYS II/16): It is the pain to be removed which has not yet appeared but is bound to appear in the future.

Heyahetu (PYS II/17): It is the misidentification between the 'seer' and 'seen'. The PYS considers that our life span, family in which to be born, and enjoyment in the world depend upon Kleśa. This Kleśa is the root cause for the storehouse of our Karma (PYS II/12, 13).

Hāna (PYS II/25): An approach to remove the pain (PSI) is possible.

Hānopāya (Vivekakhyātiḥ aviplavā hānopāyaḥ, PYS II/26): Patañjali presents a method called Vivekakhyāti (the unbroken practice of discrimination and the means of destruction of ignorance) if followed; one can attain freedom from pain (PSI) forever.

Relevance of PSW concept in the present life

The concepts of PSW as discussed in PYS are beneficial in managing several lifestyles PSI such as depression, anxiety, psychosis, phobia, etc.[5,9,10] Many health practitioners are completely knowledgeable about these PSW concepts and do apply these aspects in their own life but very few are using these strategies for personal transformation. Therefore, it is highly recommended to use PSW aspects discussed in PYS for personal transformation.

Conclusion

The PSW concepts discussed in PYS are holistic in nature. They may be interpreted under the frame of mental health and can be used in modern psychotherapeutic processes. Similarly, they are related to the conceptualization of consciousness, altered state of consciousness, and the therapy process. Furthermore, these PSW concepts may also be useful in the modern therapeutic paradigm. It may be suggested that Yoga practitioners may develop these therapeutic aspects of PSW in curative, preventive, and promotive ways in relation to wellness.

References

1. Schouten B, Avau B, Bekkering GTE, Vankrunkelsven P, Mebis J, Hellings J, Van Hecke A. *Systematic screening and assessment of psychosocial well-being and care needs of people with cancer.* Cochrane Database Syst Rev 2019;3(3):CD012387.
2. Moons P, Budts W, De Geest S. *Critique on the conceptualisation of quality of life:* a review and evaluation of different conceptual approaches. Int J Nurs Stud 2006;43(7):891-901.
3. Ganz PA, Schag CA, Lee JJ, Sim MS. The CARES: *a generic measure of health-related quality of life for patients with cancer*. Qual Life Res 1992;1(1):19-29.
4. Hunsberger M, Lehtinen-Jacks S, Mehlig K, Gwozdz W, Russo P, Michels N, Bammann K, Pigeot I, Fernández-Alvira JM, Thumann BF, Molnar D, Veidebaum T, Hadjigeorgiou C, Lissner L; IDEFICS Consortium. *Bidirectional associations between psychosocial well-being and body mass index in European children:* longitudinal findings from the IDEFICS study. BMC Public Health 2016;16(1):949.
5. Eraballi A, Pradhan B. *Quality of life improvement with rehabilitation according to constitution of the World Health Organization for coronary artery bypass graft surgery patients*: A descriptive review. Ayu 2017;38(3-4):102-7.
6. Satyananda S. *Four Chapters on Freedom*. Munger, Bihar: Yoga Publications Trust. 2002.
7. Chowdhary S, Gopinath JK. *Clinical hypnosis and Patanjali yoga sutras*. Indian J Psychiatry 2013;55:S157-64.
8. Moonaz S, Jeter P, Schmalzl L. *The importance of research literacy for yoga therapists*. Int J Yoga Therap 2017;27(1):131-3.
9. Pereira LF, Tesser CD. *Do yoga para a atenção psicossocial na Atenção Primária à Saúde: um estudo hermenêutico sobre valores e princípios éticos do Yoga Sutra de Patañjali* [From yoga to psychosocial care in Primary Health Care: a hermeneutic study on the ethical values and principles of the Yoga Sutras of Patañjali]. Cien Saude Colet 2021;26(2):711-720. Portuguese.
10. Raghuram N, Parachuri VR, Swarnagowri MV, Babu S, Chaku R, Kulkarni R, Bhuyan B, Bhargav H, Nagendra HR. *Yoga based cardiac rehabilitation after coronary artery bypass surgery:* one-year results on LVEF, lipid profile and psychological states--a randomized controlled study. Indian Heart J 2014;66(5):490-502.
11. Jerath R, Barnes VA, Crawford MW. *Mind-body response and neurophysiological changes during stress and meditation: central role of homeostasis.* J Biol Regul Homeost Agents 2014; 28(4):545-54.

12. Dalal AS, Barber XT. *Yoga and hypnotism*. In: Barber XT, editor. LSD, Marijuana, Yoga and Hypnosis. Chicago: Aldine-Atherton; 1970.
13. Tripathi V, Bharadwaj P. *Neuroscience of the yogic theory of consciousness*. Neurosci Conscious 2021;2021(2).
14. Wester WC, Smith AH. *Clinical hypnosis: A multidisciplinary approach*. Lippincott Williams & Wilkins; 1984.
15. Alladin A. *Cognitive hypnotherapy: An Integrated Approach to the Treatment of Emotional Disorders*. England: John Wiley and Sons; 2008.
16. Shamasundar C. *Relevance of ancient Indian wisdom to modern mental health*-A few examples. Indian J Psychiatry 2008;50:138–43.
17. Manickam LS. *Psychotherapy in India*. Indian J Psychiatry 2010;52:S366–70.
18. Andrews-Hanna JR. *The brain's default network and its adaptive role in internal mentation.* Neuroscientist 2012;18:251–70.

1. Ph.D. Scholor (Yoga), Deptt. of Yoga
School of Humanities and Social Science.
Email. aswinishamtikhe@gmail.com.
Mob: 9902833570

2. Dean, Department of Research and Development
SAM Global University
Kolua Gram, Adampur Chawani. Raisen Road
Bhopal (Madhya Pradesh)-462022
Email: singh-drakhilesh@yahoo.com
Mob. 8827407855

3. Asstt. Professor, Department of Yoga and Ayurveda
Sanchi University of Buddhist-.....Studies
Sanchi, Madhya Pradesh-
Pin. 464661
rudranath29@gmail.com.
Mob : 9902833570